CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

2.2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

n Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-C

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पं. दीनदयाल उपाध्याय: विचार-दर्शन

खण्ड १

तत्त्व जिज्ञासा

समर्पण

उन साधकों और कर्मवीरों को,
जो युगों-युगों से चलती आयी
आध्यात्मिक चिन्तनधारा से पोषित
श्रेष्ठ जीवनादर्शों को युगानुकूल
कलेवर प्रदान करने के लिए
कृतसंकल्प हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पं. दीनदयाल उपाध्याय विचार-दर्शन

खण्ड १

तत्त्व जिज्ञासा

(अनुवर्ती छः खण्डों की प्रस्तावनास्वरूप स्वतन्त्र विवेचन)

लेखक

दत्तोपन्त ठेंगड़ी

अनुवादक

मोरेश्वर तपस्वी

सुरुचि प्रकाशन

केशव कुञ्ज, झण्डेवाला, नयी दिल्ली–११००५५

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकाशक:
सुरुचि प्रकाशन
केशव कुञ्ज, झण्डेवाला, नयी दिल्ली—११००५५

© सुरुचि प्रकाशन

प्रथम संस्करण: २५ सितम्बर, १९८६

मूल्य पुस्तकालय संस्करण ३६ रुपये
पत्रावरण (पेपरबैक) संस्करण १८ रुपये

छाया-शब्दसंयोजन (फोटोकम्पोजिंग):
ग्रामीण दुनिया, १९९ साइकिल मार्केट-१,
झण्डेवाला विस्तार, नयी दिल्ली—११००५५

मुद्रक: प्रिन्स आफसैट प्रिन्टर्स
१५१० पटौदी हाउस, दरियागंज
नई दिल्ली—११०००२
दूरभाष—२७७१५३

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तत्त्वजिज्ञासा

दिनांक ११ फरवरी, १९६८।

भारत पर उस दिन वज्रपात हुआ।

पं. दीनदयाल उपाध्याय की हत्या का आकस्मिक समाचार सुनकर सारा देश सन्न रह गया। चारों ओर से शोक-संवेदनाएं व्यक्त होने लगीं।

राष्ट्रपति डा. जाकिर हुसैन ने कहा, "मुझे श्री दीनदयाल उपाध्याय की मृत्यु का समाचार सुनकर गहरा आघात लगा।"

सभी दलों तथा निर्दलीय नेताओं ने उन्हें उत्स्फूर्त श्रद्धांजलि अर्पित की। उपराष्ट्रपति श्री वी.वी. गिरि, श्री नीलम संजीव रेड्डी, मोरारजी देसाई, श्री यशवन्तराव चव्हाण, श्री जयप्रकाश नारायण, श्री हीरेन मुखर्जी, श्रीमती वायलेट अल्वा, श्रीमती तथा आचार्य कृपलानी, श्री नानासाहब गोरे, श्री नाथ पै, श्री एस.एम. जोशी, मधु लिमये, श्री प्रेम भसीन, श्री राजाभाऊ खोब्रागड़े, संत फतहसिंह, श्री जगजीवनराम, श्री स.का. पाटिल, चक्रवर्ती राज गोपालाचार्य, बैरिस्टर एन.सी. चटर्जी, श्री चरणसिंह, श्री के.एन. मुंशी, सेठ गोविंददास, बक्षी गुलाम मुहम्मद, श्री गुलाम मोहम्मद सादिक, सरदार स्वर्णसिंह, श्री लक्ष्मणसिंह गिल, श्री हुमायूं कबीर, श्री फखरूद्दीन अली अहमद, श्री ओमप्रकाश त्यागी, श्री रामगोपाल शालवाले, श्रीमती सिंधुताई फाटक, श्री रघुबीरसिंह शास्त्री, श्री रामचन्द्र विकल आदि नेताओं ने पंडित जी को भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की।

संघ के सरकार्यवाह माननीय बालासाहेब देवरस, मा. लाला हंसराज गुप्त, मा. माधवराव मुले, मा. प्रकाशदत्त भार्गव, म. बाबा साहब घटाटे, मा. वसंतराव ओक, मा. ब्रह्मदेव जी, मा. सोहनसिंह जी आदि निकटवासियों ने तथा मा. भाऊराव देवरस, बैरिस्टर नरेन्द्रसिंह जी, श्रीमती बुआ जी, आदि लोगों ने उन्हें हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित की।

जनसंघ की कार्यकारिणी ने श्रद्धांजलि अर्पित करते समय कहा—"थोड़े ही वर्षों में देश के राजनीतिक जीवन में जनसंघ ने जो प्रमुख स्थान प्राप्त किया है, उसका श्रेय यदि किसी एक व्यक्ति को है तो, वह उपाध्याय जी को है।"

पंडित जी के उत्तराधिकारी श्री अटलबिहारी वाजपेयी ने कहा—"एक दीपक बुझ गया है और चारों ओर अंधकार है। श्री उपाध्याय दूरदृष्टि वाले और संपूर्ण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

देश का विचार करने वाले थे। वे मौलिक विचारक, कुशल संगठनकर्ता और सबको साथ लेकर चलने में प्रवीण थे। जनसंघ को बनाने का श्रेय उन्हीं को है।"

प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने कहा, "श्री उपाध्याय देश के राजनीतिक जीवन में एक प्रमुख भूमिका अदा कर रहे थे। जनसंघ और कांग्रेस के बीच मतभेद चाहे जो हों, श्री उपाध्याय सर्वाधिक सम्मानपात्र नेता थे और उन्होंने अपना जीवन देश की एकता एवं संस्कृति को समर्पित कर दिया था।"

सरसंघचालक परमपूजनीय श्री गुरुजी ने कहा, "हे प्रभो!"

भारत की संसद् ने—पंडित जी के सांसद न होते हुए भी—उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित की। पंडित जी के ममेरे भाई श्री प्रभुदयाल जी के शोक में सारे देशवासी सहभागी हो गये।

मानो भारत की राष्ट्रशक्ति ही आर्त हृदय से कह रही थी—

"बड़े शौक से सुन रहा था ज़माना,
तुम्हीं सो गये दास्तां कहते-कहते"

२.

संघ में प्रवेश करने से पहले के पंडित जी के जीवन के बारे में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है। उनकी प्रसिद्धिविमुखता ही इसका एक कारण रही है। वे अपने बारे में कभी नहीं बोलते थे।

दीनदयाल जी का जन्म २५ सितम्बर, १९१६ (विक्रम सं. १९७३) शालिवाहन शक १६३८, भाद्रपद-आश्विन, कृष्ण-१३, सोमवार के दिन जयपुर-अज़मेर रेलमार्ग पर धनकिया गाँव में उनके नाना श्री चुन्नीलाल जी शुक्ल के घर में हुआ। उनके नाना धनकिया के स्टेशन मास्टर थे। पंडित जी के पिता श्री भगवती प्रसाद जी मथुरा जिले के नगला चन्द्रभान के मूल निवासी थे। वे मथुरा के जलेसर रोड स्टेशन पर स्टेशन मास्टर के रूप में काम करते थे। पंडित जी की माताजी का नाम श्रीमती रामपियारी था। पंडित जी के दादा पंडित हरिराम जी प्रख्यात ज्योतिषी थे। उनकी मृत्यु होने पर आगरा और मथुरा में लोगों ने हड़ताल की थी।

पंडित जी के जन्म के दो वर्ष बाद उनके एक और भाई हुआ। उसका नाम शिवदयाल रखा गया था। इसके छः माह बाद ही पंडित भगवतीप्रसाद का निधन हो गया। तब अपनी माँ के साथ वे नाना श्री चुन्नीलाल शुक्ल के यहाँ रहने लगे। पंडित जी साढ़े छः वर्ष के थे, तब उनकी माताजी का भी स्वर्गवास होगया। तब से उनका पालन-पोषण उनके मामा श्री राधारमण शुक्ल ने किया। वे गंगापुर (राजस्थान) स्टेशन पर फ्रंटियर मेल के गार्ड थे। सन् १९३४ के कार्तिक मास की कृष्ण-११ को छोटा भाई शिवदयाल भी चल बसा और पंडित जी का जीवन एकाकी बन गया। फिर भी ननिहाल के सब लोगों का उनके प्रति व्यवहार बहुत ही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ममत्व भरा था। श्री प्रभुदयाल शुक्ल, स्वामीनाथ, ब्रह्मानंद, विजयकुमार, अरुण कुमार आदि लोगों ने पंडित जी के साथ अन्त तक निकटता के स्नेह-संबंध रखते थे।

पंडित जी ने सीकर के कल्याण हाई स्कूल से मेट्रिक की परीक्षा दी और अजमेर बोर्ड में वे प्रथम श्रेणी में प्रथम रहकर उत्तीर्ण हुए। फलस्वरूप बोर्ड ने और विद्यालय ने उन्हें स्वर्ण पदक दिये। उसके दो वर्ष बाद उन्होंने पिलानी के बिरला कालेज से इंटर की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। उन्हें फिर दो स्वर्ण पदक मिले—एक बोर्ड की ओर से, दूसरा विद्यालय की ओर से। कानपुर के सनातन धर्म कालेज से गणित विषय लेकर उन्होंने बी.ए. प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण किया। इलाहाबाद से वे एल.टी. हुए। इस बीच पढ़ाई के लिए उन्हें कुछ समय गंगापुर, कोटा, आगरा तथा रामगढ़ में भी रहना पड़ा। रामगढ़ में उनके एक मामा श्री नारायण शुक्ल स्टेशन मास्टर थे। विद्यार्थी अवस्था में ही श्री सुन्दरसिंह जी भण्डारी के साथ उनकी मित्रता हो गयी। पूरी महाविद्यालयीन शिक्षा उन्होंने छात्रवृत्ति के बल पर पूरी की।

सन् १९३७ में उनका संबंध राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से आया। उस वर्ष मकर-संक्रमण के उत्सव में वेदमूर्ति पंडित सातवलेकर के करकमलों द्वारा कानपुर की शाखा को ध्वज दिया गया। इस शुभ अवसर पर पंडित जी ने संघ की पृतिज्ञा ली। उन्हें संघ में लाने का श्रेय मुख्यतया माननीय भाऊराव जी देवरस को है। मा. बापूराव मोघे, भैया जी सहस्रबुद्धे, नानाजी देशमुख, बापू जोशी आदि लोग उन दिनों संघ-कार्य के लिए उत्तरप्रदेश में रह रहे थे। सन् १९४२ में पंडित दीनदयाल जी ने लखीमपुर जिला-प्रचारक केनाते प्रचारक-जीवन प्रारंभ किया। मा. पंडित रामनारायण मिश्र के घर ही वे मुख्यतः रहते थे। उस समय एक उच्च माध्यमिक विद्यालय का प्राचार्य पद उन्हें देने का प्रस्ताव किया गया था, किन्तु संघ-प्रचारक की भूमिकामें ऐसे पद का स्वीकार करना तर्कसंगत न होने के कारण उन्होंने उसे अस्वीकार कर दिया। सन् १९४७ में उत्तरप्रदेश के सहप्रांत प्रचारक के नाते उनकी नियुक्ति हुई। इस काल में उत्तरप्रदेश के सभी संघ-कार्यकर्ताओं को उनके निकट-सहवास का लाभ मिला।

सर्वश्री रामनाथ भल्ला, सत्यव्रत सिन्हा, मा. राजेन्द्रसिंह, वीरेन भाई, डा. कृष्णबिहारी, जुगादे बंधु, करंजकर बंधु, कृष्णदत्त शर्मा, गोपालकृष्ण कलंत्री, कुंजबिहारीलाल राठी, रजनीकांत लाहिरी, राधेश्याम कपूर, डा. पी.के. बनर्जी, मा. देवले, गोपालराव कालिया, जयगोपालजी, अनंतराव गोखले, पंडित श्योवरण सिंह, सतीश सक्सेना, मधुसूदन बापट, विजय मुंजे, मनोहर आठवले, राजाभाऊ सावरगावकर और ग्वालियर कें डा. गुणे आदि कार्यकर्ताओं को पंडित जी के सहयोगी के नाते काम करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

सन् १९४७ में 'राष्ट्रधर्म' प्रकाशन की स्थापना हुई। उसकी ओर से 'राष्ट्रधर्म' मासिक, 'पांचजन्य' साप्ताहिक तथा 'स्वदेश' दैनिक प्रकाशित होते थे। पंडित जी अंतिम दो पत्रों के संपादक के रूप में काम करते थे। प्रकाशन के प्रबंध निदेशक श्री नानाजी देशमुख थे। संपादन का कार्य सर्वश्री महावीर प्रसाद

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

त्रिपाठी, राजीवलोचन अग्निहोत्री, अटलबिहारी वाजपेयी, महेन्द्र कुलश्रेष्ठ, गिरीशचन्द्र मिश्र, तिलक सिंह परमार, यादवराव देशमुख, वचनेश त्रिपाठी आदि ने क्रमशः संभाला था। इनके अतिरिक्त मनमोहन गुप्त, ज्वालाप्रसाद चतुर्वेदी (प्रबंधक), राधेश्याम कपूर (प्रकाशक), पावगी, बजरंगशरण तिवारी (प्रेस व्यवस्थापक) आदि कार्यकर्ता भी राष्ट्रधर्म-परिवार में थे। इस परिवार के वत्सलकर्ता दीनदयाल जी थे।

अधिवक्ता राजकुमार (लखनऊ) की अध्यक्षता में उत्तरप्रदेश जनसंघ की स्थापना हुई। उस समय दीनदयाल जी को प्रदेश जनसंघ का काम सौंपा गया। उससे पूर्व ५ मई, १९५१ को डा. श्यामाप्रसाद मुखर्जी के नेतृत्व में कलकत्ता में 'पीपुल्स पार्टी' की स्थापना हुई। २७ मई, १९५१ को जालंधर में प्रादेशिक स्तर पर भारतीय जनसंघ की स्थापना हुई। ८ सितम्बर, १९५१ को विविध प्रांतों के कार्यकर्ताओं की दिल्ली में प्रारंभिक बैठक हुई। अखिल भारतीय दल की स्थापना का उसमें विचार हुआ। २० से २२ अक्तूबर तक दिल्ली में अखिल भारतीय सम्मेलन आयोजित किया गया। उसका उद्घाटन राघोमल हायर सेकेण्डरी स्कूल के प्रांगण में हुआ। २१ अक्तूबर को भारतीय जनसंघ की स्थापना की अधिकृत घोषणा की गयी। जनसंघ का प्रथम अखिल भारतीय अधिवेशन दिसम्बर १९५२ में कानपुर में हुआ। उस समय जनसंघ के अखिल भारतीय महामंत्री के रूप में दीनदयाल जी के नाम की घोषणा की गयी।

राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश करने से पूर्व राजनीतिक प्रश्नों के विषय में पंडित जी के मन में क्या था, इसे समझ लेना आवश्यक है। राजनीति एवं राजनीतिक दलों के बारे में संघ की भूमिका परम पूजनीय श्री गुरुजी के उन दिनों के भाषणों में स्पष्ट की गयी है। यही भाषणमाला आगे चलकर 'ध्येय-दर्शन' शीर्षक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित की गयी है। उससे संघ की सर्वसाधारण भूमिका का बोध होता है। व्यक्तिशः पंडित जी के मन में इस विषय में उन दिनों क्या विचार थे, इसे समझ लेना भी उपयोगी होगा। उस दृष्टि से निम्न लेखों का मूल पाठ पढ़ना ही अधिक अच्छा रहेगा:–

पंडित दीनदयाल जी के लेख २००५-६ (१९४७-४९)

राष्ट्रधर्म **इतिहास**: (१) भारतीय राष्ट्रधारा का पुण्यप्रवाह (बुद्ध से शंकराचार्य तक) वर्ष-१, अंक-१, श्रावणी पूर्णिमा, विक्रम सं. २००४ (२) भगवान कृष्ण: वर्ष-१, अंक-२, भाद्रपद पूर्णिमा, २००४
संस्कृति: (३) चिति: वर्ष-१, अंक-३-४, कार्तिक पूर्णिमा, २००४
राजनीति: (४) राष्ट्रजीवन की समस्याएं: अंक-९, शरद्पूर्णिमा, २००६ (५) भारतीय राजनीति की मौलिक भूलें: अंक-११, मार्गशीर्ष पूर्णिमा, २००६

पांचजन्य **इतिहास-दृष्टि**: (१) लोकमान्य तिलक की राजनीति: स्वतंत्र भारत में लोकमान्य की प्रथम जयंती के अवसर पर, श्रावण कृष्ण ८, २००५
व्यंग्यात्मक: (२) १४४ (धारा १४४ के इतिहास एवं उपयोग पर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

व्यंग्य) आषाढ़ शुक्ल ७, २००५
ललित निबंध: (३) राजनीतिक आय-व्यय: भाद्रपद शुक्ल १०, २००५, जुलाई १९४९ से जुलाई १९५०
सांस्कृतिक: (४) जीवन का ध्येय राष्ट्रीय आत्मानुभूति: भाद्रपद कृष्ण ९, २००६ (५) विजयादशमी (सहिष्णुता के समान ही जयिष्णुता की आवश्यकता): विजयादशमी विशेषांक, २००६
राजनीति: (६) भारतीय संविधान पर एक दृष्टि (कठोर एवं बृहद् संविधान के निर्माण के स्थान पर संवैधानिक विकास-प्रक्रिया प्रारंभ करने का आग्रह) मार्गशीर्ष शुक्ल ४, संवत् २००६

इसी कालखण्ड में दीनदयाल जी की दो साहित्यिक रचनाएं प्रकाशित हुईं—'जगद्गुरु शंकराचार्य' तथा 'सम्राट् चन्द्रगुप्त'। इन रचनाओं से बहुत कुछ कल्पना की जा सकती है कि राजनीति में प्रवेश करने से पूर्व दीनदयाल जी के विचारों की दिशा क्या थी[1]।

वस्तुत: दीनदयाल जी का मूल स्वभाव संघप्रचारक का ही था। संघ कार्य की प्रारंभिक अवस्था में नये स्थान पर कार्य प्रारंभ करने में कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था, इसकी कल्पना आज नहीं की जा सकती। आज यदि यह बतायें तो लोगों को आश्चर्य होगा कि गोलागोकर्णनाथ के लोगों ने उन्हें भड़भूजे की दुकान से चने खरीदकर उन्हीं पर कई दिन तक जीवन-निर्वाह करते देखा था। मुहम्मदी के लोगों ने उन्हें दुकान के बाहर की पटरी पर रात बिताते देखा था। स्टेशन से गाँव जाने के लिए तांगेवाला दो पैसे अधिक मांग रहा था, तो उनकी बचत करने के लिए भारी वर्षा में दीनदयाल जी को भीगते हुए गाँव जाते हरदोई के लोगों ने देखा था। बाह्य परिस्थिति की प्रतिकूलता तो थी ही, साथ ही स्वयं दीनदयाल जी की अनासक्त कर्मयोगी प्रवृत्ति भी महत्त्वपूर्ण थी। आगे चलकर जीवन में अनुकूलता प्राप्त होने के बाद भी उन्होंने उसका लाभ नहीं उठाया। अपने कपड़े वे स्वयं धोया करते थे और अपने फटे-पुराने कपड़ों की सिलाई भी वे स्वयं करते थे। कोई भी चप्पल या कपड़ा-लत्ता जब तक पहनने के लिए बिल्कुल ही अयोग्य न हो जाता, तब तक उसे बदलते नहीं थे। स्वदेशी का आग्रह उन्होंने प्रत्यक्ष आचरण में उतारा था। सार्वजनिक धन का उपयोग न्यासी की भांति कितनी मितव्ययिता से करना होता है, इसका आदर्श उदाहरण उन्होंने अपने आचरण से प्रस्तुत किया था। बिल्कुल छोटे-मोटे काम वे समान उत्साह से करते थे।

सभी छोटी-छोटी बातों का सदा ध्यान रखना उनका स्वभाव बन गया था। कारण, बाह्यत: वे लौकिक व्यवहार में कितने ही निमग्न क्यों न दिखाई देते हों, उनका सच्चा लक्ष्य 'ज्ञानोत्तर भक्तिपूर्ण कर्मयोग' ही था। फिर भी दैनिक व्यवहार में उनका आचरण सामान्य लोगों जैसा होता था। इसीलिए उनके पास के लोग भी इसकी कल्पना नहीं कर पाते थे कि वास्तव में वे कितने महान हैं।

'राष्ट्रधर्म' का काम देखते समय उन्होंने कई बार कम्पोजिग, बाइडिग तथा डिस्पैचिंग का काम भी स्वयं किया था। निष्काम कर्मयोग उनकी सहज प्रवृत्ति थी।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"सुखदु:खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व......................।।"

यह उनका स्वभाव ही बन गया था। अहंकार, व्यक्तिगत आकांक्षा आदि क्षुद्र भावनाओं का स्पर्श भी उनको नहीं होता था। आदेश के अनुसार उन्होंने राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश किया, किन्तु उनकी वृत्ति थी—"दुनिया में हैं, दुनिया के तलबगार नहीं। बाज़ार से निकले हैं, खरीददार नहीं।" इतनी निर्लेप![२]

सक्रिय राजनीति में होते हुए भी पंडित जी की महत्त्वाकांक्षा पानी में कमल के पत्ते जैसी थी। परम पूजनीय श्री गुरुजी ने अपने जौनपुर के भाषण में कहा था—"दीनदयाल जी का राजनीतिक क्षेत्र की ओर कतई झुकाव नहीं था। पिछले वर्षों में कितनी ही बार मुझसे उन्होंने कहा, "यह आपने मुझे किस झमेले में डाल दिया! मुझे फिर से अपना प्रचारक का काम करने दें।" मैंने कहा, "भाई, तुम्हारे सिवा इस झमेले में किसको डालें? संगठन के कार्य के प्रति जिसके मन में इतनी अविचल श्रद्धा और दृढ़ निष्ठा है वही उस झमेले में रहकर कीचड़ में अस्पृश्य (अछूता) रहता हुआ सुचारु रूप से वहाँ की सफाई कर सकेगा, दूसरा कोई नहीं कर सकेगा।" (संभवतः इसीलिए परम पूजनीय बालासाहेब देवरस ने भी कहा था—"श्री दीनदयाल जी को देखकर मुझे किसी अन्य की नहीं, संघ के संस्थापक डा. हेडगेवार जी की स्मृति हो आती है।")

राजनीति के बारे में इतनी उदासीनता होने पर भी एक बार जो कार्य दे दिया, दीनदयाल जी ने उसे इतनी सुव्यवस्थित रीति एवं शास्त्रीय पद्धति से, पूरा मन लगाकर तथा सारी शक्ति जुटाकर किया कि उसके कारण 'योग:कर्मसुकौशलम्' वाली उक्ति का व्यावहारिक अर्थ किसी के भी ध्यान में आ जाता।

अपने 'जनसंघ' शीर्षक अंग्रेजी प्रबन्ध में ग्रेग बैक्स्टर ने लिखा है—"जनसंघ ही एकमात्र ऐसा दल है जिसने १९५२ से १९६७ तक के हर चुनाव में प्राप्त मतों का प्रतिशत एवं लोकसभा तथा विधानसभाओं में मिले स्थानों का अनुपात लगातार बढ़ाया है।"

'जनसंघ: आइडियोलॉजी एण्ड आर्गनाइजेशन इन पार्टी बिहेवियर' शीर्षक अपने प्रदीर्घ अंग्रेजी निबंध में वाल्टर के. एण्डरसन लिखते हैं—"उपाध्याय के १९६७ में जनसंघ का अध्यक्ष पद स्वीकार करने का यही अर्थ था कि दल की संगठनात्मक नींव डालने का काम पूरा हो गया है और राष्ट्रीय स्तर पर एक प्रबल प्रतिस्पर्धी के नाते सत्ता की प्रतियोगिता में उतरने का उसका संकल्प है।"

यह तो मानो शून्य से ब्रह्माण्ड की सृष्टि ही थी।

अखिल भारतीय दायित्व उन पर आने के बाद उनका व्यावहारिक अनुभव एवं घनिष्ठ व्यक्तिगत संबंधों का क्षेत्र अधिकाधिक विस्तृत होता गया। जनसंघ की प्रारंभिक अवस्था में सर्वश्री डा. मुखर्जी, डा. भाई महावीर, बलराज मधोक, महाशय कृष्ण, भल्ला बन्धु, वैद्य गुरुदत्त, मौलिचन्द्र शर्मा, उमाशंकर त्रिवेदी, वसंतराव ओक आदि लोगों के साथ काम करने का अवसर उन्हें मिला। सर्वश्री बापूसाहब सोनी, प्रेमनाथ जी डोगरा, डा. रघुवीर, देवप्रकाश घोष, पीताम्बरदास,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ए. रामाराव, बच्छराज व्यास आदि सभी अध्यक्षों के कार्यकाल में सूत्रसंचालन का कार्य दीनदयाल जी ही किया करते थे। जनसंघ के कार्यालय-प्रमुख श्री जगदीश माथुर तो उनके अनुचर थे। जनसंघ के सभी पदाधिकारियों तथा कार्यकर्ताओं और उनमें भी विशेषकर सभी संगठन-मंत्रियों को उनके सहवास का लाभ प्राप्त होता था। रा.स्व. संघ से संस्कार एवं प्रेरणा ग्रहण कर राष्ट्र-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करने वाले स्वयंसेवक सदा ही पंडित जी के मार्गदर्शन की आशा रखते और वे भी इन सब कार्यों को अपने ही परिवार का कार्य मानते थे। (अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद् के प्रथम अध्यक्ष तथा महामंत्री श्री ओमप्रकाश बहल तथा श्री वेदप्रकाश नन्दा के साथ उनके संबंध पुराने थे।) दीनदयाल जी का मुख्य कार्यालय दिल्ली में ही रहता था। श्री जगदीश अब्रोल तथा श्री चमनलाल जी जैसे कार्यकर्ता भी, जो राजनीतिक क्षेत्र में नहीं थे, उन दिनों दीनदयाल जी के निकट सहवास में रहते थे। दीनदयाल जी जब भी वहाँ रहते, आर्गनाइजर के कार्यालय को अवश्य भेंट देते और के.आर. मलकानी, लालकृष्ण आडवाणी तथा सुधाकर राजे के साथ विचारों का आदान-प्रदान करते थे। इसी प्रकार का विचारों का आदान-प्रदान देशभर की विभिन्न भाषाओं की पत्र-पत्रिकाओं में काम करने वाले सभी समविचार वाले बंधुओं के साथ भी वे हार्दिकता से किया करते थे। 'हिन्दुस्तान समाचार' के संस्थापक श्री दादासाहेब आपटे, श्री बापूराव लेले तथा श्री बालेश्वर अग्रवाल ऐसे लोगों में प्रमुख थे।

संघ-क्षेत्र में उनका सभी स्तरों के कार्यकर्ताओं के साथ न्यूनाधिक संबंध रहता था। संघ की बैठकों में उनका योगदान उल्लेखनीय था। मा. एकनाथ रानडे के मार्गदर्शन में संघ का संविधान अक्षरबद्ध करने के काम में भी उनका प्रमुख सहयोग था। इस काम में उन्हें मा. बाबासाहेब आपटे तथा मा. राजपाल पुरी की विशेष सहायता मिली थी। मा. बाबासाहेब आपटे के साथ पंडित जी की बैठक 'समसमासंयोग' का अनुभव कराती थी। सहसरकार्यवाह एवं सरकार्यवाह का दायित्व संभालने वाले सभी अधिकारियों के साथ उनके घनिष्ठ संबंध थे। मा. श्री मल्हारराव काले. मा. अप्पाजी जोशी, मा. भैयाजी दाणी, मा. एकनाथ रानडे, मा. माधवराव मुले इस श्रेणी में आते थे। वही बात मा. यादवराव जोशी आदि संघ के अन्यान्य पदाधिकारियों एवं सरसंघचालक जी के निजी सचिव डा. आबासाहब थत्ते एवं केन्द्रीय कार्यालय-प्रमुख श्री पांडुरंगपंत क्षीरसागर के बारे में भी थी।

संघ पर लगा प्रथम प्रतिबंध हटने के बाद महत्त्वपूर्ण कालखण्ड में अन्य क्षेत्रों के कार्यकर्ताओं के परम पूजनीय बालासाहब देवरस के साथ विशेष संबंध रहे। यह सच है कि स्वयंसेवकों द्वारा चलायी गयी सभी संस्थाएं अपने में स्वशासी हैं। किसी भी संस्था को संघ अपना अग्रपंक्ति-संगठन (विशिष्ट क्षेत्र में काम करने वाला फ्रंट आर्गनाइजेशन या मोर्चा) अथवा संक्रमण-साधन (ट्रान्समिशन बेल्ट) नहीं मानता, तथापि व्यक्तिगत जीवन की भांति सार्वजनिक जीवन में भी योग्य स्थान से मार्गदर्शन प्राप्त करने की इच्छा कार्यकर्ताओं के मन में तो होती ही है। तदनुसार ज्येष्ठ व्यावहारिक मार्गदर्शक के नाते परम पूजनीय बालासाहब देवरस की ओर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कार्यकर्ता देखा करते थे। अपने क्षेत्र में नयी संरचना करने के बारे में पंडित जी भी उनसे बार-बार परामर्श करते थे।

पंडित जी का सबसे महत्त्वपूर्ण एवं आत्मीयता का अलौकिक संबंध तत्कालीन सरसंघचालक परम पूजनीय श्री गुरुजी के साथ था।

परम पूजनीय श्री गुरुजी तथा श्री दीनदयाल जी के संबंधों का वर्णन करने में शब्द असमर्थ हैं। यह बात सभी निकटवर्तियों के ध्यान में आती थी कि स्वयंसेवक, प्रचारक तथा कार्यकर्ता के नाते दीनदयाल जी से श्री गुरुजी विशेष अपेक्षा रखते थे। दोनों की 'वेवलैंग्थ' (वैचारिक तरंग-दैर्घ्य) एक ही थी। किसी भी घटना पर श्री गुरुजी की प्रतिक्रिया क्या होगी, इसकी अचूक कल्पना दीनदयाल जी कर सकते थे। स्वयंसेवकों द्वारा चलायी गयी संस्थाओं पर कम्युनिस्ट दल की भांति नियंत्रण रखना संघ को स्वीकार नहीं। जैसा कि ऊपर कहा गया है, ऐसी कोई भी संस्था संघ का 'फ्रंट आर्गनाइजेशन' या 'ट्रान्समिशन बेल्ट' नहीं। संघ के घटक (विंग्ज) उसके अपने स्वयंसेवक ही हैं। संघ का संबंध स्वयंसेवकों के साथ है। उनसे यह आशा की जाती है कि अपने-अपने कार्य-क्षेत्र में कार्य की रचना एवं विचारों का विकास वे संघ के आदर्शों के प्रकाश में करेंगे, किन्तु कम्युनिस्ट दल की भांति विभिन्न क्षेत्रों में काम कर रहे कार्यकर्ताओं की गतिविधियों पर नियंत्रण रखने की कल्पना संघ की योजना में बैठती नहीं। अर्थात् संघ को भी यह आशा एवं विश्वास है कि उसके अपने स्वयंसेवक सब कुछ सुयोग्य ढंग से ही करेंगे। श्री गुरुजी तथा पंडित दीनदयाल जी में वैचारिक समरसता होने के कारण यह अपेक्षा जनसंघ के बारे में पूर्ण होती गयी।

स्वराज्य-प्राप्ति के बाद नवरचना का कालखण्ड प्रारम्भ हुआ। देश के विभाजन के कारण उत्पन्न हुए प्रश्न, विस्थापितों के पुनर्वास की समस्याएं, जम्मू-काश्मीर पर हुआ पाक का आक्रमण, पंडित नेहरू का अब्दुल्ला प्रेम, शेख अब्दुल्ला की महत्त्वाकांक्षा और उसका पोषण करने वाली संविधान की ३७०वीं धारा, पंडित नेहरू का संयुक्त राष्ट्रसंघ में जाना और पाकिस्तान द्वारा हथियाये गये काश्मीर के एक भाग की उलझी हुई समस्या, पूर्वी पाकिस्तान की हिन्दू विरोधी नीति, नेहरू सरकार की पाक तुष्टीकरण की नीति एवं उसके साथ किये गये विभिन्न समझौते, पुर्तगाल तथा फ्रांस द्वारा शासित प्रदेशों के बारे में उनकी नीति आदि सारी बातें देशभक्तों को चिंता में डालने वाली थीं। स्पष्ट दिखाई देता था कि स्वदेशी, स्वधर्म एवं स्वातंत्र्य के लिए संघर्ष अभी समाप्त नहीं हुआ है। स्पष्ट था कि देश की प्रतिरक्षा के प्रश्न को प्रधानता देकर इन प्रश्नों पर जन-जागरण करने, सैनिक शिक्षा अनिवार्य करने, शस्त्र-धारण करने का अधिकार सभी नागरिकों को देने और सैनिकों तथा निवृत्त सैनिकों के कल्याण की विशेष चिंता करने की नीति स्वीकार करने को कांग्रेस सरकार तैयार नहीं है। पाकिस्तान के निर्माण के बाद भी शेष भारत में कांग्रेस ने 'वोट' प्राप्त करने की लालसा से मुसलमानों का लाड़ करना छोड़ा नहीं था। मतों के मोह में हिन्दू समाज को विघटित कर उसके अंगभूत सिख, बौद्ध, जैन, लिंगायत आदि के मन में पृथकता की भावना भरने का प्रयास चालू ही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

था। विदेशी मिशनरियों की देश-घातक कार्यवाहियों को भी सरकार जानबूझकर अनदेखा करती थी। (यही कारण था कि आगे चलकर नियोगी समिति तथा रेगे समिति ने इस विषय पर जो संस्तुतियाँ की थीं, उनकी भी उपेक्षा की गयी।) उन्हीं कारणों से संपूर्ण गोवंश-हत्या पर प्रतिबंध लगाने की हिन्दुओं की मांग भी सरकार लगातार अस्वीकार कर रही थी। कांग्रेस मुसलमानों को यह बताने के लिए तैयार नहीं थी कि धर्म बदलने से राष्ट्र बदलता नहीं और अपनी उपासना-पद्धति को बनाये रखते हुए भी भारत की संस्कृति के साथ इंडोनेशिया के मुसलमानों की भांति एकात्म बना जा सकता है। प्रवासी भारतीयों के भवितव्य के बारे में सरकार उदासीन थी और परिणामस्वरूप दक्षिण अफ्रीका, श्रीलंका, बर्मा, मलाया, मारीशस और फिजी में बसे भारतीयों को पूर्ण नागरिक अधिकार प्राप्त करा देने और इन देशों तथा सूरिनाम,ग्वायना, त्रिनिदाद आदि देशों के साथ विशेष संबंध स्थापित करने के दायित्व को भारत सरकार टाल रही थी। अपने उदार मन की प्रतिमा विश्वभर में खड़ी कर सरलता से विश्व-नेतृत्व प्राप्त करने की आशा के साथ पंडित नेहरू देशहित के प्रतिकूल विदेश-नीति विकसित करने जा रहे थे। नेपाल जैसे सांस्कृतिक दृष्टि से अन्तरंग राष्ट्र की उपेक्षा, पड़ोसी राष्ट्रों के साथ अच्छे संबंध रखने के प्रति उदासीनता, डा. मुखर्जी, श्री गुरुजी तथा डा. अम्बेडकर जैसे नेताओं द्वारा दी गयी चेतावनी की उपेक्षा कर चीन द्वारा तिब्बत पर किये गये आक्रमण की ओर आँख मूँदना, कोलम्बो-प्रस्ताव का स्वागत, बेरूवाड़ी का हस्तांतरण, कच्छ, गोवा, चीन-पाक व्याप्त भारतीय प्रदेश, आसान में पाकिस्तानी घुसपैठ तथा नागा आदि विद्रोहियों के बारे में बरती गयी उदार (?) नीति, (आगे चलकर इसी की परिणति ताशकंद समझौते में हुई), मोहन रानडे तथा मस्कारिनस के भवितव्य के बारे में अनुत्तरदायी उदासीनता, भारत की सीमा पर चीन द्वारा सैनिक सज्जा की ओर अनदेखी करते हुए "हिन्दी-चीनी भाई-भाई" का नारा, ब्रिटिश कामनवैल्थ के बारे में स्वाभिमानशून्य निर्णय तथा दुर्बल राष्ट्र के घोषित गुटनिरपेक्षवाद की व्यर्थता को न समझने वाली स्वप्निलता—ये सब बातें पंडित नेहरू की विश्व-नेतृत्व की शेख मुहम्मदी इच्छा के ही कटु फल थे। इसी कारण श्री महावीर त्यागी ने पंडित नेहरू की उपस्थिति में ही उनकी नीति का वर्णन करते हुए कहा था—

"अपनों से बैर कर लिया, गैरों से दोस्ती।
अपनों के सर कटा दिये, सरदार बन गये।।"

विदेशी पूँजी के बारे में भी सरकार ने इसी प्रकार की ढीली नीति रखी थी। सहज ही ध्यान में आ सकता है कि इन सब सामयिक बातों पर श्री गुरुजी एवं पंडित दीनदयाल जी की प्रतिक्रियाएं समान थीं। किन्तु इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि 'परं वैभवं नेतुमेतत् स्वराष्ट्रम्' का ध्येय, अखण्ड भारत के बारे में संकल्प, 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' का बोध-वाक्य, दल के ध्वज का सूचक रंग (भगवे ध्वज के बारे में दीनदयाल जी कहा करते थे—"यही ध्वज हमें अपने अतीत का यथार्थ ज्ञान, विश्व की उत्तम प्रेरणा तथा वर्तमान की स्वयंप्रेरित कर्मचेतना प्रदान कर सकता है।"), भारत की राष्ट्रीयता का (एक देश, एक जन, एक संस्कृति, एक राष्ट्र) स्वरूप,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भारत में सर्वधर्म-समादर की सभ्यता, भारत के संविधान का स्वरूप, धर्मराज्य[३] (Rule of Law) की स्वागतार्हता, राष्ट्रीय स्वयंपूर्णता एवं भारतीयकरण का आग्रह जैसी मौलिक मान्यताओं के भी दोनों कट्टर समर्थक थे।

इस बारे में भी दोनों का मतैक्य था कि राजनीति का उद्देश्य क्या हो। बैंथम का कथन—"अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक सुख" उनके राजनीतिक कार्य का लक्ष्य नहीं हो सकता था, क्योंकि वे 'सर्वभूतहिते रताः' वाली परम्परा के थे। बार्हस्पत्य सूत्र में कहा गया है "नीतेः फलं धर्मार्थकामावाप्ति" अर्थात् राजनीति का उद्देश्य धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि है। किन्तु इसी सूत्र के अनुसार अर्थ और काम धर्म की कसौटी पर खरे उतरने वाले होने चाहिए। मनु एवं कौटिल्य तथा कामदंडीय का भी यही मत है। अपने धर्मशास्त्रों में प्रस्तुत इस विषय की चर्चा का मानो समारोप करते हुए इस विषय के अधिकारी लेखक महामहोपाध्याय डा. पांडुरंग वामन काणे ने लिखा है:—

"चारों, विशेषतः पहले तीन पुरुषार्थों की प्राप्ति करने के लिए आवश्यक अनुकूलता लोगों को उपलब्ध करा देना राज्य का लक्ष्य माना जाता था (क्योंकि अंतिम मोक्ष पुरुषार्थ व्यक्ति की गहन तत्त्वदृष्टि तथा गुणानुभूति पर ही निर्भर रहता है और उसे प्राप्त कर सकने वालों की संख्या बहुत ही अल्प होती है) बार्हस्पत्य सूत्र (२-४३) में कहा गया है कि राजनीति का फल धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि ही है। सोमदेव अपने नीतिवाक्यसूत्र का प्रारम्भ ही विशिष्ट प्रकार से करते हैं। वे प्रारम्भ में राज्य का गुणगान करते हैं और कहते हैं कि राज्य, धर्म, अर्थ और काम, तीनों फल देता है।

धर्मशास्त्रकारों का मत था कि राज्य में धर्म सर्वश्रेष्ठ शक्ति है और प्रत्यक्ष राजा से भी उसका अधिकार बड़ा होता है। राजा धर्म का लक्ष्य साध्य करा देने वाला केवल एक साधन मात्र होता है।"

इसी लक्ष्य की युगानुकूल सिद्धि दोनों को अभिप्रेत थी।

मूलभूत मान्यताएं समान होने के कारण विविध प्रश्नों पर उनकी प्रतिक्रियाएं भी समान होती थीं। राष्ट्रजीवन के विभिन्न क्षेत्रों में दोनों के नीतिविषयक विचार एक से होते थे। विदेशनीति के आधारभूत सिद्धांतों के बारे में दोनों का समान आग्रह रहता था। ये सिद्धांत थे—दक्षिण-पूर्व एशिया में सांस्कृतिक राष्ट्रमंडल की अवधारणा, परमाणु अस्त्रसज्जता का दबदबा रखने की आवश्यकता, मानवीय अधिकार एवं नागरिक स्वतंत्रताओं की रक्षा, राज्य-पुनर्रचना के मार्गदर्शक तत्त्व, शासनप्रणाली का स्वरूप, सामाजिक समरसता एवं समता स्थापित करने के उपाय, संयुक्त स्वतंत्र राष्ट्रीय चर्च की आवश्यकता और भाषा, शिक्षा, स्वास्थ्य एवं देश की आन्तरिक व्यवस्था के बारे में दूरगामी नीति आदि। उनका यह भी आग्रह रहता था कि आर्थिक क्षेत्र की पुनर्रचना करते समय अर्थ और काम के अभाव एवं प्रभाव दोनों से बचने की दक्षता बरतनी चाहिए। राष्ट्रनिर्माण के कार्य में नियोजन का स्थान एवं मर्यादा, नियोजन में वरीयता का क्रम, बेकारी-निवारण तथा मूल्यों पर नियंत्रण रखने के प्रश्न को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रधानता, जीवनोपयोगी वस्तुओं की सुनियंत्रित एवं सस्ते दामों पर आपूर्ति, अन्न-समस्या दूर करने के उपाय, स्वदेशी का प्रचार-प्रसार, आर्थिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण, श्री चारु मजूमदार के नवोदित नक्सलवाद का विश्लेषण, भूमि और उद्योग के स्वामित्व की कसौटियाँ, अधिकतम उत्पादन, समान वितरण एवं संयत उपभोग की प्रयोज्यता, काम के अधिकार एवं न्यूनतम निर्वाह की आश्वस्ति, न्यूनतम तथा अधिकतम आय में निश्चित् अनुपात रखने की आवश्यकता, 'हर हाथ को काम और हर खेत को पानी' का लक्ष्य सामने रखने का आचित्य, कर प्रणाली का अभिनवीकरण, भारतीय परिस्थिति में उपयोगी तंत्रविज्ञान की समस्या, आदि विषयों पर भी दोनों के विचार एक से थे। आगे चलकर २३ से २६ जनवरी, १९६५ के दिनों में पंडित बच्छराज जी व्यास की अध्यक्षता में स्वीकृत 'सिद्धांत एवं नीति' शीर्षक अभिलेख (दस्तावेज) इन्हीं विचारों का परिचायक था। उसी प्रकार सन् १९५४ में सिन्दी शिविर में इस विषय पर हुई श्री गुरुजी की भाषणमाला एवं एकात्म मानवतावाद पर पंडित जी द्वारा किये गये भाष्य, दोनों का तुलनात्मक अध्ययन उद्बोधक होगा।

ऐसी बात नहीं कि दोनों के केवल विचारों में ही एकता थी, अपितु उनकी अभिव्यक्ति के बारे में भी दोनों की नीति समान थी। दोनों आग्रह रखते थे कि पारिभाषिक शब्द भारतीय परम्परा से ही चुने जायें, वे विदेशी न हों। दोनों की धारणा थी —'एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः सुप्रयुक्तः लोके त्वर्गे च कामधुक् भवति।'[४] सौभाग्य से इन दोनों ही बातों में डा. श्यामाप्रसाद मुखर्जी की भी 'वेवलैंग्थ' (वैचारिक तरंग-दैर्घ्य) एक ही थी। इससे कल्पना की जा सकती है कि जनसंघ के प्रारम्भिक दिनों में मानसिक वातावरण कैसा था।[५]

यह सच है कि संघ को राजनीति में कोई रस नहीं। सत्ता की राजनीति से संघ का कोई संबंध नहीं। किन्तु अवधारणा की दृष्टि से संघ और राष्ट्र में समव्याप्ति होने के कारण तथा मानसिक दृष्टि से संघ के संपूर्ण राष्ट्र के साथ एकात्म होने के कारण संघ राष्ट्रनीति से अलग नहीं रह सकता। राष्ट्रनीति के लिए राजनीति, संघ की स्वाभाविक अपेक्षा है। राजनीति एवं राष्ट्रनीति के वृत्त एकरूप नहीं हैं, किन्तु उनमें समव्याप्ति (overlapping) भी पर्याप्त है। 'लोकवृत्ताद् राजवृत्तमअन्यदाह बृहस्पतिः।' राष्ट्र और राज्य की अवधारणा के भेद न जानने के कारण होने वाले वैचारिक संभ्रम को हम लोगों ने अनेक बार अनुभव किया है[६]। राष्ट्र-नीति के लिए राजनीति और धर्मनीति के प्रकाश में राष्ट्रनीति, भारत की परम्परा रही है।

इस परम्परा का निर्वाह करना केवल सत्तावादी नेताओं के लिए क्या कभी संभव होगा? फरवरी, १९६३ में भारतीय जनसंघ के भोपाल में हुए अखिल भारतीय सम्मेलन में प्रतिनिधियों को सम्बोधित करते हुए पंडित जी ने कहा था—" आज जनसंघ, प्रजासमाजवादी दल, समाजवादी दल या कांग्रेस में मतभेदों की खाई को और अधिक चौड़ी न करते हुए उसको भुलाने की आवश्यकता है। राष्ट्रद्रोही कम्युनिस्टों को अलग-थलग करना राष्ट्रहित की दृष्टि से आवश्यक है। किन्तु हमारे इस प्रयास में कोई दल अथवा व्यक्ति पूर्णतः हमारे साथ न होता हो तो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ऐसे दल या व्यक्ति को बार-बार कम्युनिस्ट-समर्थक कहकर उसे कम्युनिस्टों के जाल में धकेल देना उचित नहीं होगा।''

''गाँव-गाँव जाकर समाज में आशा एवं विश्वास का निर्माण करने के लिए हमें अग्रसर होना चाहिए। यह बात हमें जनता को समझानी पड़ेगी कि राष्ट्रद्रोही लोग पंडित नेहरू का च्यांग काईशेक बनाने का षड्यंत्र कर रहे हैं और ऐसी घोषणा करनी पड़ेगी कि चीन के उस दुर्भाग्यपूर्ण इतिहास की पुनरावृत्ति हम इस भारतभूमि में कदाति नहीं होने देंगे। हमारे सम्मुख पन्ना दाई का आदर्श है। उसने उदयसिंह के प्राण बचाने के लिए अपने हृदय पर पत्थर रखकर अपने पुत्र की बलि चढ़ा दी थी। उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त राष्ट्र की अस्मिता, अखण्डता और विश्वभर में सर्वश्रेष्ठ भारतीय संस्कृति एवं जीवनदर्शन के संरक्षण के लिए हम कोई भी बलिदान करने के लिए सदैव कटिबद्ध हैं।''

पंडित जी के अमरीका-प्रवास में 'फ्रैण्ड्स आफ इंडिया कमेटी' ने उनके सम्मान में एक स्वागत-समारोह आयोजित किया था। उस समिति के अध्यक्ष डा. नॉर्मन डी. पामर ने पंडित जी की मृत्यु के बाद कहा—''पंडित जी उन लोगों में से नहीं थे जिनके बारे में अलैग्ज़ैंडर पोप ने कहा था—

"Born for the Universe, narrowed his mind
And to party gave up what was meant for mankind."
(ब्रह्मांड के लिए जो जन्मा था, उसने अपना मन संकुचित बना लिया और एक दल के हाथों में वह सब दे डाला जो संपूर्ण मानव-जाति के लिए था।)

इस पृष्ठभूमि में पंडित जी द्वारा डा. श्यामबहादुर वर्मा के एक प्रश्न पर दिया गया भ्रमभंजक उत्तर उनकी मन:स्थिति पर प्रकाश डालने वाला है। श्री वर्मा ने पूछा था—''दीनदयाल जी! क्या आपको ऐसा लगता है कि सत्ता मिलने के बाद कांग्रेस जिस प्रकार भ्रष्ट हो गयी, उसी प्रकार भारतीय जनसंघ सत्ता मिलने के बाद भ्रष्ट नहीं होगा?'' पंडित जी ने उत्तर दिया था—''सत्ता सामान्यत: भ्रष्ट करती है। इस संबंध में पूरी दक्षता बरतने के बाद भी जनसंघ में यदि भ्रष्टाचार आ जाता है तो हम उसे विसर्जित कर दूसरे जनसंघ का निर्माण करेंगे और उससे भी काम न बना तो तीसरे जनसंघ का निर्माण करेंगे। और यही क्रम चलता रहेगा। भगवान परशुराम ने २१ बार राजाओं का संहार किया था। आदर्श राजा के रूप में अंत में रामचन्द्र सामने आये। रामराज्य की स्थापना के बाद परशुराम ने वन की ओर प्रस्थान किया। हम भी अपने द्वारा निर्मित संस्थाओं के बारे में मोह क्यों रखें? छोटा बच्चा गाजर के साथ खेलता रहता है और जब खिलौने के रूप में उसका उपयोग समाप्त हो जाता है तो उसे खा डालता है। अपने ही हाथों से निर्मित संस्था भी जब राष्ट्रहित के विरोध में कार्य करेगी तो ऐसी स्वनिर्मित संस्था का विनाश करना धर्म ही होता है। राष्ट्र सर्वश्रेष्ठ है, संस्था नहीं।'' सत्ता-पिपासु राजनीतिक नेता भला क्या कभी ऐसा कह सकता है?

किसी भी नवस्वतंत्र देश के सार्वजनिक नेताओं का वर्गीकरण चार वर्गों में किया जा सकता है। एक वर्ग है शुद्ध सत्तावादियों का। पक्षी की बायीं आँख पर सारा ध्यान केन्द्रित करने वाले अर्जुन की भांति ये शुद्ध सत्तावादी अपने चित्त को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

केवल सत्ता पर एकाग्र करते हैं और अन्य कोई भी सत्कार्य या सद्विचार उनकी इस एकाग्रता को भंग नहीं कर सकता। दूसरा वर्ग है विशुद्ध राष्ट्र-निर्माताओं का। उनका भी चित्त एकाग्र ही होता है, किन्तु राष्ट्र-निर्माण के कार्य पर। इस कार्य की सिद्धि के लिए आवश्यकता पड़ने पर राजनीति में भाग लेना अपरिहार्य हो, तब भी ऐसा करने से होने वाले लाभ एवं हानि तथा अपनी भूमिका का समग्र विचार करते हुए इस वर्ग के लोग राजनीतिक कार्य से दूर रहते हैं। या यों कहा जा सकता है कि इन लोगें के गणित के अनुसार राजनीतिक कार्य को किन्हीं अन्य लोगों के द्वारा तो करवाया जा सकता है, किन्तु स्वयं ही राजनीति में उतरने के कारण नैतिक अधिकार कम होता दिखाई देता हो तो उससे होने वाली हानि अधिक बड़ी रहेगी। इन दोनों वर्गों के लोगों को स्पष्टतः पहचाना जा सकता है। उनकी पहचान में विभ्रम होने की कोई संभावना नहीं होती। किन्तु दो अन्य वर्गों की सीमारेखा बहुत ही सूक्ष्म होती है और परिणामस्वरूप उनका वर्गीकरण कठिन हो जाता है। मुख्यतः सत्तावादी, किन्तु यह सोचकर कि सत्ता के गौरीशंकर शिखर पर चढ़ना हो तो उसके लिए थोड़ा-थोड़ा राष्ट्र-निर्माण कार्यों के तीर्थक्षेत्रों से हो हुए चले बिना अन्य उपाय नहीं है, बरबस थोड़ा-बहुत राष्ट्रनिर्माण का कार्य करने वाले व्यक्तियों का एक वर्ग होता है। ये मुख्यतः सत्तावादी होते हुए आनुषंगिक रूप से राष्ट्रनिर्माता होते हैं। दूसरा वर्ग ऐसे नेताओं का होता है जिन्हें राजनीति में कोई रुचि नहीं होती, राष्ट्रनिर्माण का कार्य ही उनका एकमात्र लक्ष्य होता है, किन्तु उस ध्येयमंदिर की ओर जाने वाला मार्ग राजनीति के बाजार से होता हुआ जाता हो तो अनिवार्य रूप से उन्हें राजनीति में प्रवेश करना पड़ता है। अर्थात् मुख्यतः राष्ट्रनिर्माता एवं आनुषंगिक रीति से राजनीतिक भूमिका निभाने वाले व्यक्तियों का यह वर्ग होता है। स्पष्ट है कि पंडित जी इस चौथे वर्ग के नेता थे।

भारतीय राष्ट्र-पुरुषों की मानसिकता का आकलन कर पाना पश्चिमी राज्यशास्त्रवेत्ताओं एवं उनके भारतीय शिष्यों के लिए कठिन होता है। किंबहुना, अपने मापदण्ड से मूल्यांकन करने पर वे यदि इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ऐतिहासिक भारत का नेतृत्व करने वालों में पागल लोगों की संख्या अधिक होती है, तो कोई आश्चर्य नहीं।

रामचन्द्र और भरत में चित्रकूट पर्वत पर अयोध्या के राज्य के स्वामित्व के बारे में विवाद हुआ। प्रत्येक का दूसरे से कहना था कि यह राज्य तुम्हारा है, मेरा नहीं और तुम्हें ही इसे संभालना है। नवशिक्षित भारत की किसी नगरपालिका के एकाध वार्ड के लिए भी ऐसा विवाद सुनाई नहीं देगा!

साम्राज्यसत्ता के एक प्रत्याशी की माँ ने भगवान से प्रार्थना की कि मुझ पर और मेरे पुत्र पर सदा संकट आते रहें, ताकि हम सबको तुम्हारा स्मरण सदैव होता रहेगा। ऐसी प्रार्थना करने के लिए आज एक ग्रामपंचायत के प्रत्याशी की माँ भी तैयार नहीं होगी।

अपने कर्तृत्व से स्थापित साम्राज्य का प्रधानमंत्री पद स्वयं दूसरे को सौंपकर हिमालय का मार्ग पकड़ने वाले को आज पागलखाने में भरती करने योग्य ही माना जायेगा।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हिंदवी स्वराज्य हो, यह 'श्री' की इच्छा है। यह 'श्री' कौन है? चुनाव आयोग द्वारा प्रकाशित मतदाताओं की सूची में उसका नाम नहीं मिलता। जिसे एक मत देने का अधिकार भी न हो, उस 'श्री' की इच्छा का क्या महत्त्व है?

"मुख्य है हरिकथा-निरूपण, दूसरा राजकारण"

यह एक संत-वचन है। अब यदि संसार की सारी बातें सत्ता के माध्यम से ही प्राप्त होती हैं, तो उस सत्ता की ओर सीधे दौड़ लगाना छोड़कर बीच ही में यह हरिकथा-निरूपण की झंझट किस लिये?

"सकल सुखों का त्याग करके साध्य करें यह योग।
राज्यसाधना का उद्योग—करना चाहिए।।"

ऐसा कहना भी कितनी मूर्खता है! सकल सुखों का भोग लेना हो तो राज्य की आवश्यकता होती है। उसे योग की संज्ञा देना और उसके लिए सुखी जीवन को दुख में डालने की सीख देना क्या पागलपन का लक्षण नहीं है? 'राजा प्रजा का उपभोगशून्य स्वामी है'। 'राज्य का भोग, अर्थात् राज-संन्यास'। इन दोनों व्याख्याओं में जो अन्तर्विरोध है, आज मैट्रिक फेल लड़के की भी समझ में सरलता से आयेगा।

आधुनिक वातावरण की दृष्टि से इन सब विचार-परम्पराओं का उपहास होना स्वाभाविक है। किन्तु साथ ही यह भी सच है कि भारत की श्रेष्ठता एवं चिरंतनता प्रस्थापित करने के कार्य में ऐसे पागल लोगों और उनके द्वारा स्थापित जीवनमूल्यों का योगदान सबसे बड़ा[७] है। ऐसे लोगों के आचरण के बारे में अचूक अनुमान लगाना आज के प्रगतिशील लोगों के लिए भी कठिन होगा। 'तुम ही अपना बनाओ राजा, शीघ्र हमारे जीते जी'—ऐसा वर देवी से मांगने वाले समर्थ रामदास स्वामी प्रत्यक्ष में शिवराज्याभिषेक के अवसर पर रायगढ़ में क्यों उपस्थित नहीं थे? उसी प्रकार १९६७ में जब विभिन्न संविद् सरकारों में जनसंघ के मंत्रियों का शपथ-ग्रहण समारोह हो रहा था, तब "हम सज्जनगढ़ ही रहते हैं, शिवाजी का कोतुक देखते हैं।"—इसी भावना से अजमेरी गेट कार्यालय में रहने वाले दीनदयाल जी की तटस्थता भी नयी पीढ़ी के लिए अनाकलीय ही रहेगी।

इस संदर्भ में एक प्रसंग उल्लेखनीय है—

कालीकत का अधिवेशन समाप्त हुआ था। जनसंघ के कुछ नेताओं के साथ पंडितजी बेंगलौर से डोडा बल्लापुर पहुँचे थे। वहाँ संघ का शिविर लगा था और स्वयं श्री गुरुजी शिविर में उपस्थित थे। सायंकाल श्री गुरुजी का बौद्धिक वर्ग होना था। किन्तु उससे पूर्व चायपान के समय श्री गुरुजी ने कहा, "अब दीनदयाल बोलेंगे।" इस पर सभी चकित रह गये। एक ने कहा, "शिविर में सब लोग आपके मार्गदर्शन के लिए एकत्र हैं।" श्री गुरुजी ने कहा, "नहीं भाई! दीनदयाल जी ही बोलेंगे।" इस पर किसी ने कहा, "वे तो जनसंघ के अध्यक्ष हैं।" इस पर श्री गुरुजी ने तुरंत कहा, "नहीं, दीनदयाल संघस्वयंसेवक हैं, वह स्वयंसेवक के नाते बोलेंगे, जनसंघ के अध्यक्ष के नाते नहीं।" और श्री गुरुजी की उपस्थिति में पंडित जी का ही बौद्धिक हुआ। इस घटना पर और भाष्य करने की आवश्यकता नहीं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जनसंघ के ध्येय तथा नीति के प्रमुख शिल्पी दीनदयाल जी ही थे।

अतः प्रगतिशील (?) दलों के चिंतन में पाया जाने वाला संभ्रम, परस्पर विसंगति एवं अन्तर्विरोध अखिल भारतीय जनसंघ में नहीं पाया जाता। जनसंघ के ध्येय एवं नीति में स्वयं-प्रतिभा, सुस्पष्टता, एवं मौलिकता का दर्शन होता है। उदाहरण के लिए 'सैक्यूलरिज्म' की परिकल्पना को ही लीजिए।

हमारे देश में इस शब्द का उपयोग जिस अर्थ में किया जाता है, उस अर्थ में विश्व के किसी भी देश में नहीं किया जाता[८]। किसी भी अंग्रेजी शब्दकोश में 'सेक्यूलर' शब्द का ऐसा अर्थ आपको नहीं मिलेगा। वास्तव में पंडित नेहरू के अभिप्रेत भाव को व्यक्त करने के लिए सबसे निकट पर्याय वाला अंग्रेजी शब्द था NON DENOMINATIONAL (असाम्प्रदायिक)।

सेक्यूलरिज्म की परिकल्पना के बारे में संविधान-सभा में हुई परिचर्चा से लेकर हाल ही में श्री पी.सी. चटर्जी लिखित 'सेक्यूलर वैल्यूज फॉर सेक्यूलर इंडिया' के प्रकाशन तक पर्याप्त उल्टी-सीधी चर्चा हो चुकी है। स्वयं बाबा साहब अम्बेडकर ने भी इस परिकल्पना का स्वरूप संविधान-सभा के भाषण में स्पष्ट किया है।

वास्तव में सेक्यूलरिज्म का व्यावहारिक अर्थ बाइबल के इस निर्देश में स्पष्ट है कि "जो सीजर का हो वह सीजर को दो और जो ईश्वर का हो उसे ईश्वर को"। स्मरणीय है कि प्रारम्भ में भारत के संविधान में भी 'सेक्यूलर' शब्द नहीं था। सन् १९७६ में पारित ४२वें संविधान-संशोधन द्वारा 'सेक्यूलर' तथा 'सोशलिस्ट' दोनों शब्दों का उसमें समावेश किया गया। पंडित दीनदयाल जी मानते थे कि हिन्दू-राष्ट्र की अवधारणा तथा सेक्यूलरिज्म में परस्पर विरोध या असंगति नहीं है। हिन्दुस्तान में राज्य संस्था सदैव सेक्यूलर रही है। हिन्दू राज्य सेक्यूलर ही होता है। फर्डिनांड तथा ईजावेला के क्रूर रिलीजियस कोर्ट की परिकल्पना भी इस देश के वातावरण के साथ बेमेल है। सेक्यूलर का अर्थ निधर्मी करना गलत है। सेक्यूलर का अर्थ है सर्वसम्प्रदायसमभावी। हिन्दू कोड बिल पर संसद् में बोलते हुए डा. बाबासाहेब अम्बेडकर ने कहा था, "सेक्यूलर स्टेट का अर्थ यह नहीं है कि लोगों की धर्म-भावनाओं का हम कोई विचार नहींकरेंगे। सेक्यूलर स्टेट का अर्थ केवल इतना ही होता है कि अन्य लोगों पर एक विशिष्ट सम्प्रदाय लादने का अधिकार इस लोकसभा को नहीं है। संविधान ने इतनी ही मर्यादा को स्वीकार किया है। सेक्यूलरिज्म का अर्थ धर्म को नष्ट करना कदापि नहीं[९]।"

हिन्दू राष्ट्र-समर्थकों की सदैव यही भूमिका रही है। पंडित जी ने भी इसी सत्य को नाना दृष्टांत देकर जनता के सम्मुख रखा था।

प.पू. श्री गुरुजी ने बार-बार स्पष्ट किया है कि हिन्दू इतिहास में राज्य (स्टेट) सदैव सेक्यूलर ही रहा है। हिन्दुओं का स्टेट सेक्यूलर स्टेट है। हिन्दू 'रिलीजन' नहीं है, वह राष्ट्रवाचक शब्द है। उससे भी बढ़कर महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हिन्दू अवधारणा बहु-आयामी तथा अनेक पहलूवाली है। फलस्वरूप संकीर्ण पश्चिमी प्रणाली के अनुसार किसी परिभाषा की चौखट में उसे सीमित करना वास्तविकता से परे होगा[१०]। पूज्य महात्मा जी ने भी स्पष्ट कहा था, "हिन्दुत्व में जीसस के लिए भी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पर्याप्त स्थान है और उसी प्रकार मुहम्मद, जरथुस्त्र तथा मोजेस के लिए भी।

अहिन्दुओं से यह अपेक्षा उचित ही है कि यहाँ की राष्ट्रीय संस्कृति के साथ वे एकात्म हों और फलस्वरूप हमारे राम, कृष्ण आदि राष्ट्रीय महापुरुषों के प्रति उनके मन में भी वैसा ही आदर हो, जैसा कि पिरामिड के निर्माताओं के बारे में मिस्री, एटिल्ला के बारे में तुर्की अथवा दरायस के विषय में ईरानी मुसलमानों के मन में है।

इस संदर्भ में श्री आर्नाल्ड टायनबी ने कहा है, "हिन्दू धर्म यह मानकर चलता है कि सत्य एवं मुक्ति की ओर जाने के मार्ग अनेक हैं। उसे यह भी मान्य है कि ये विभिन्न मार्ग न केवल एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं, अपितु परस्पर पूरक हैं।"

सर्वोच्च न्यायालय के पूर्व मुख्य न्यायाधीश श्री गजेन्द्रगड़कर का निम्न अभिप्राय चिंतनीय है–

"...... विश्व के अन्य धर्म-सम्प्रदायों की भांति हिन्दू धर्म किसी एक ही देवदूत का दावा नहीं करता, किसी एक ही ईश्वर की पूजा नहीं करता। किसी एक ही दार्शनिक अवधारणा का वह अनुगामी नहीं है। पूजा-विधि एवं धार्मिक आचार का एक ही साँचा उसे स्वीकार नहीं। वास्तविकता यह है कि हिन्दू धर्म किसी भी धर्म या सम्प्रदाय के पारंपरिक संकीर्ण अंगों को पूर्ण नहीं करता। हिन्दू धर्म का वर्णन बहुत ही हो तो एक जीवनधारा के रूप में ही किया जा सकता है। .....भारतीय दर्शन के इतिहास से यह मोटा निष्कर्ष निकलता है कि हिन्दू धर्म का विकास सदैव सत्य की अनंत खोज से हुआ है। वह इस बोध पर आधारित है कि सत्य के अनेक पक्ष होते हैं। सत्य एक ही है, किन्तु सुज्ञ लोग उसका वर्णन अलग-अलग ढंग से करते हैं। (एकं सत् विप्रा: बहुधा वदन्ति।)"

इस पृष्ठभूमि में भगिनी निवेदिता का यह विचार देखिए:–

"किसी भी भारतीय सम्प्रदाय के अनुयायी का सबसे बड़ा अपराध है अन्य सम्प्रदायों की यह मानकर आलोचना करना कि मानो वे सनातन धर्म की कक्षा से बाहर हैं। उचित व्याख्या करने पर बुद्ध, इस्लाम, क्रिश्चियन, कन्फयूशियन आदि सब धार्मिक सम्प्रदायों की जड़ में वेदों की प्रामाण्यता ही है।"

इस दृष्टि से श्री हुमायूँ कबीर द्वारा उद्धृत के. विलियम का निम्न अभिप्राय: चिंतनीय है:–

"मनुष्य की 'अन्त:प्रवृत्तियों' एवं आचरण के जितने निकष होंगे, सत्य एवं वास्तविकता के उतने पक्ष (पहलू) अवश्य होंगे। हिन्दू मानसिकता की सहिष्णुता का उद्गम इस अन्त:प्रवृत्ति की विपुलता एवं अन्य प्रवृत्तियों से प्रकट होने वाले वस्तु सत्य के विशिष्ट पहलू को उसके द्वारा दी गयी मान्यता में खोजा जा सकता है। यूरोपीय तत्त्वज्ञान का रुझान परस्पर विरोधी वर्गों को अमान्य करने की ओर है और स्पष्ट विभाजन करते समय एक ही अंतिम सत्य को प्रस्थापित करने की दिशा में तथ्यों की व्याख्या करने का प्रयास यूरोपीय चिंतन ने किया है। हिन्दू शास्त्र ने अनेक भूमिकाओं एवं सत्य की अनेक श्रेणियों को स्वीकार किया है। किसी को भी नकारा नहीं है। सम्पूर्ण सत्य तथा सम्पूर्ण असत्य निश्चित करने की दृष्टि से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यूरोपीय चिंतन वस्तु-जगत् की व्याख्या करता है। अतः यूरोपीय चिंतन को एक तीव्रता तथा उद्रेक प्राप्त हुआ है। किन्तु यूरोपीय लोगों की सत्य की ओर देखने की दृष्टि को आग्रही तथा संकीर्ण बनाने में भी इस चिंतन ने पर्याप्त योगदान किया है। दूसरी ओर, प्राचीन काल से ही भारतीय दर्शन की यह मान्यता रही है कि सत्य के अनेक पक्ष होते हैं और उनको केवल परस्पर विरोधी वर्गों में बाँटकर समझाया नहीं जा सकता। भारतीय दर्शन ने सत्य की श्रेणियों को इतनी अधिक संख्या में स्वीकार किया है कि यूरोपीय परमार्थ - चिंतन में उसका सानी रखने वाला कुछ भी नहीं पाया जाता।''

''बाह्यतः विसंगत एवं सरकार विरोधी प्रतीत होने वाले धर्म-मतों की श्रद्धाओं का समन्वय और समभाव करने की हिन्दू संस्कृति की यह क्षमता ही इस संस्कृति को अन्य किसी बात की अपेक्षा अधिक चेतना एवं जीवनसातत्य देती रही है। भिन्नताओं को समा लेने का और विविधताओं के साथ जीने का यह गुण मानव इतिहास में बेजोड़ ही माना जायेगा।''

प.पू. श्री गुरुजी को हिन्दुत्व का यही वास्तविक अर्थात् सर्वव्यापी तथा सर्वसमावेशक स्वरूप अभिप्रेत था। उनकी श्रद्धा थी कि आगे चलकर एकात्म मानव दर्शन या प्रचलित भाषा में विश्व-बंधुत्व* को यदि हमें सम्पूर्ण विश्व में प्रस्थापित करना हो तो उस मंगल अभियान के लिए कार्य-क्षेत्र के रूप में अत्यंत उपयोगी होने वाला देश केवल हिन्दुस्थान ही है। इसी पृष्ठभूमि में उनका हिन्दूराष्ट्र की अवधारणा के बारे में आग्रह रहता था। वे कहा करते थे कि किसी मोह का शिकार होकर हम इस हिन्दूराष्ट्र शब्द को छोड़ देते हैं, अथवा इस शब्द के बारे में कोई समझौता स्वीकार करते हैं तो हम अपना स्वत्व एवं सर्वस्व खो बैठेंगे।

हिन्दुत्व के संदर्भ में जनसंघ की वैचारिक पृष्ठभूमि का विचार करना एक स्वतंत्र विषय है। संघ-जनसंघ की इस विषय में रही भूमिकाओं में कितनी समानता या असमानता है, इस पर भी सार्वजनिक परिचर्चा हो चुकी है। किन्तु सन् १८५७ के स्वतंत्रता-संग्राम का सच्चा नेतृत्व करने वाले सेनानी, महर्षि अन्नासाहब पटवर्धन की परम्परा के लोग, श्रीमद्भगवत्गीता हाथ में लेकर फाँसी का झूला-झूलने वाले क्रांतिकारी, गांधी जी से पहले के युग में 'गीतारहस्य'कार तिलक जी की कांग्रेस के अन्दर लाल-बाल-पाल के नाम से जाना-जाने वाला गुट, गदरपार्टी के संस्थापक लाला हरदयाल जैसे दिव्य स्वप्न देखने वाले राष्ट्रभक्त, हिन्दूपन की प्रकृति तीसरे वर्ग वाली है। उसका कार्य-क्षेत्र भारत है।

---

* इस शब्द को हमारे देश में बहुत ही अधिक ढीलेपन से प्रयुक्त किया जाता है। वास्तव में 'अन्तरराष्ट्रीय' कहलाने वाली विचारधाराओं का वर्गीकरण तीन भागों में होता है –

1. International Communalism
2. International Secterianism
3. International Humanism

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उसी प्रकार गांधी युग में महात्मा जी के स्वातंत्र्य-संग्राम में प्रत्यक्ष सहभागी होकर भी उनकी मुस्लिम तुष्टिकरण** की नीति से अप्रसन्न कांग्रेसजन, हिन्दुत्व के कट्टर समर्थक होते हुए भी हिन्दू महासभा की कुछ नीतिविषयक बातों से* असंतुष्ट हिन्दुत्ववादी, मालवीय, केलकर, मुञ्जे, जयकर आदि की प्रतियोगी सहकारिता की नीति के समर्थक, एवं अणे-मालवीय की कांग्रेस नेशनलिस्ट पार्टी के अनुयायी आदि विभिन्न मतप्रवाहों में से किसका कितना वैचारिक उत्तराधिकार जनसंघ ने स्वीकार किया था, इस विषय पर खोज किया जाना अभी शेष है। तथापि एक निष्कर्ष निरपवाद रूप से निकाला जा सकता है कि 'आर्गनाइजर' में जनसंघ की स्थापना से पूर्व प्रकाशित श्री पी. परमेश्वरन्, श्री बलराज मधोक, श्री कमल (के.आर.) मल्कानी तथा मा. दादा परमार्थ के लेखों तथा क्रिश्चियन विचारक एंथनी एलेनजिमित्तम की 'The Philossophy and action of the R.S.S. for the Hindu Swaraj' पुस्तिका, सब में एक ही विषय का प्रतिपादन था और वह था हिन्दुत्वनिष्ठ राजनीतिक दल एवं कार्य की आवश्यकता।

'हिन्दुत्व' और 'हिन्दू राष्ट्र' का स्वरूप क्या है? इन दिनों हिन्दूराष्ट्र या भारतीय राष्ट्र के प्रश्न पर पर्याप्त चर्चा-परिचर्चा होती है। इस पुस्तक में भी इस विषय पर समर्थ एवं विस्तृत विवेचन किया गया है। यहाँ एक ही उल्लेख पर्याप्त है कि फरवरी १९५६ के प्रथम सप्ताह में पंजाब जनसंघ समिति के सम्मुख बोलते हुए दीनदयाल जी ने कहा था, "हमारे दल के जन्म से ही हम लोग निरंतर यह मानते आये हैं कि हिन्दू राष्ट्रवाद का ही दूसरा नाम भारतीय राष्ट्रवाद है।"

भारतीय जनसंघ के कानपुर में हुए प्रथम वार्षिक अधिवेशन में डा. श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने कहा था, "हमारा दल सभी नागरिकों को समानता देने के लिए सिद्ध है, फिर भी हिन्दू समाज के दृढ़ीकरण की आवश्यकता का प्रतिपादन करने में उसे कतई संकोच नहीं होता। साथ ही गर्व के साथ इस बात को स्वीकार करते हुए कि भारतीय संस्कृति और सभ्यता के भव्य प्रासाद की रचना मुख्यत: हिन्दू साधु-संतों और देशभक्तों के परिश्रम, त्याग एवं ज्ञान पर ही की गई है, हमें किसी भी प्रकार की हीन भावना का स्पर्श नहीं होता।"

भारतीय जनसंघ की सभी जीवन-श्रद्धाओं का अधिष्ठान हिन्दुत्व ही है। स्वाभाविक रीति से दल के अध्यक्ष डा. श्यामाप्रसाद मुखर्जी से लेकर देहात के छोटे कार्यकर्ताओं तक सभी की जीवन-श्रद्धाएं हिन्दुत्व पर ही अधिष्ठित थीं।

**खिलाफत आंदोलन, मिलीजुली संस्कृति की परिकल्पना, विद्रोही मोपलाओं के प्रति नीति, स्वामी श्रद्धानंद की हत्या पर उनके उद्‌गार, अफगानिस्तान के अमीर को भारत पर आक्रमण करना चाहिए—इस सुझाव पर उनकी बहुत ही विचित्र प्रतिक्रियाएं, कम्यूनल अवार्ड के प्रति दृष्टिकोण, जिन्ना को कोरा चैक देने की तैयारी, सत्तान्तरण से पूर्व चल रही बातचीत में बहुत ही घुटनाटेक भूमिका आदि बातों का समावेश इस तुष्टिकरण में होता है।

*उदाहरण के लिए "कांग्रेस एक राष्ट्रीय दल है। मुस्लिम लीग के साथ समझौता वार्ता करने का काम हमारी हिन्दू सभा पर छोड़ देना चाहिए।"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस हिन्दुत्वनिष्ठ भूमिका के कारण ही 'अखण्ड भारत' जनसंघ की पहली जीवन-श्रद्धा थी। बहुत से शंकालु व्यक्ति प्रश्न किया करते थे, ''क्या जनसंघ यह सब कर पायेगा?'' डा. श्यामाप्रसाद मुखर्जी इस बारे में कहते थे, ''अखण्ड भारत हमारे लिये केवल चुनाव-घोषणा नहीं, अपितु वह जीवन-श्रद्धा है। अनेक कांग्रेसजनों ने भी मुझसे पूछा है कि जनसंघ भारत और पाकिस्तान को फिर से एक कैसे कर पायेगा, यह ठीक-ठीक बताइए। मैंने उनसे उलटा पूछा, ''कांग्रेस ने जब स्वतंत्रता-प्राप्ति के लक्ष्य का प्रथम उद्घोष किया था, तब क्या किसी ने यह कहा था कि स्वतंत्रता का यह आंदोलन ठीक-ठीक किस मोड़ से होकर जायेगा? यह साम्प्रदायिक प्रश्न नहीं है। यह राष्ट्रीय एवं राजनीतिक प्रश्न है। हमारे पौरुष एवं मानवता दोनों के लिए यह एक चुनौती है। भारत देश भौगोलिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक दृष्टियों से एक है और वह सदा एक ही रहता आया है। कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के गठबंधन से हमारी मातृभूमि पर हुए अन्याय को दूर करने और मातृभूमि को उसकी स्वाभाविक अवस्था प्राप्त करा देने का हम लोगों का संकल्प है[११]।''

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वैचारिक दृष्टि से जनसंघ का गौत्र क्या था। इसे भलीभांति समझते हुए भी मद्रास के डा. वी.के. जॉन जैसे नेता जनसंघ में सम्मिलित हुए, यह घटना विचारणीय है।

यह मौलिकता और स्वतंत्र प्रतिभा जनसंघ के विचारधन में भी दिखाई देती है।

पंडित जी भलीभांति जानते थे कि केवल योग्य विचारों के निर्माण, विकास, प्रतिपादन एवं प्रचार के भरोसे ही कोई भी दल सुदृढ़ नहीं हो जाता। उनके मन में इसके लिए जो प्रक्रियाएं थीं उनमें प्रत्येक कार्यकर्ता का प्रयासपूर्वक निर्माण, इस प्रकार संस्कारित कार्यकर्ताओं की प्रत्येक स्तर पर एक टोली (टीम) बनाना, इन कार्यकर्ताओं के माध्यम से जन-संपर्क, जन-जागरण, जन-शिक्षा, जन-संगठन तथा जन-आंदोलन आदि कार्यक्रम करते हुए सबके फलस्वरूप एक ओर दल के वृक्ष की जड़ें गरही जमाते जाना और दूसरी ओर लक्ष्य-प्राप्ति के आकाश की ओर उसकी शाखाओं को अधिकाधिक ऊँचा उठाते जाना सम्मिलित था। प्रचार का महत्त्व तो होता ही है, किंतु उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात होती है शिक्षण की तथा उससे भी महत्त्वपूर्ण बात है— विशेषत: कार्यकर्ताओं की दृष्टि से—संस्कार। योगी अरविंद ने कहा है, ''प्रेरकता सच्चा कार्य है। यथार्थ में प्रेरणा देने वाले एक शब्द का ही उच्चार हो, तो सूखी हड्डियों में भी चेतना का संचार हो जायेगा। प्रेरणादायी जीवन हो तो उसके परिणामस्वरूप हजारों कार्यकर्ताओं का निर्माण होगा।'' कार्यकर्ताओं को संस्कारित करने के लिए सर्वोत्कृष्ट साधन नेता का अपना जीवन तथा उसका कार्यकर्ताओं के साथ नित्य, अनौपचारिक एवं पारिवारिक संबंध होता है। उसके लिए एक-एक कार्यकर्ता के साथ निजी सम्पर्क, कार्यकर्ताओं के छोटे-छोटे समूह बनाकर उनकी बैठकें लेना, मुक्त भाव से प्रश्नोत्तर करना, अभ्यासवर्गों का आयोजन करना और बड़े समाचारपत्रों में किये

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जाने वाले धुआँधार प्रचार के अतिरिक्त अपने मित्रों द्वारा चलायी जा रही पत्र-पत्रिकाओं एवं दल के साहित्य द्वारा कार्यकर्ताओं के शिक्षण की व्यवस्था करनी पड़ती है। ये भी संस्कार करने के ही माध्यम होते हैं। एक-एक कार्यकर्ता के स्वभाव, उसकी कार्य-प्रेरणाओं तथा विभिन्न कार्यकर्ताओं के आपसी संबंधों की जानकारी रखना भी आवश्यक होता है। इसी में से कब, कहाँ, कौन सी योजना की जाये, इसका अचूक निर्णय लेने की क्षमता उत्पन्न होती है। कार्यकर्ता किस परिस्थिति में है और उसे कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है, इसकी जानकारी लेकर तत्परता के साथ उचित मार्गदर्शन करने और उसके कार्य का योग्य मूल्यमापन करने की भी आवश्यकता होती है। नेता का व्यवहार ऐसा होना चाहिए कि प्रत्येक कार्यकर्ता के मन में यह विश्वास अपने आप— बिना वैसा कहे— निर्मित हो कि संगठन के अंतर्गत काम करने वाले कार्यकर्ताओं को नेता से सदैव योग्य न्याय ही मिलेगा और कार्यकर्ताओं का मूल्यमापन उनकी ध्येयनिष्ठा, गुणवत्ता तथा कर्तृत्व की कसौटियों पर ही किया जायेगा। व्यक्तिगत रुचि या अरुचि (पसंद-नापसंद) का ऐसे निर्णय पर कोई प्रभाव नहीं होगा। नेता के ऐसे व्यवहार से ही कार्यकर्ताओं के मन में देश के सार्वजनिक जीवन में दुर्लभ होते जा रहे ध्येयानुकूल जीवनमूल्यों की प्रतिष्ठापना होगी और तदनुसार स्वकेन्द्रित नहीं, वरन् संगठन-केन्द्रित विचार करते रहने का संस्कार उन्हें मिलेगा। व्यक्तिगत उपक्रमशीलता का विकास एवं संगठन की मर्यादाओं का पालन करते हुए समन्वय करने वाला लचीला अनुशासन ऐसे ही व्यवहार से आता है। नेता को अपने आचरण द्वारा यह भी सीख देनी होती है कि व्यक्तिगत सुविधा-असुविधाओं के बारे में कोई आग्रह न रखा जाये और सिद्धांत के बारे में किसी से कोई समझौता स्वीकार न किया जाये। कार्यकर्ताओं में यह बोध जगाने के कारण कि ध्येयनिष्ठा आकाश के तारों के साथ प्रेम जोड़ने का दीवानापन है, प्रदीर्घ काल तक निरपेक्ष बुद्धि से लगातार काम करते रहने की कार्यकर्ताओं की मानसिक तैयारी होती है। ऐसे कार्यकर्ताओं के केवल बोलने से नहीं, अपितु प्रत्यक्ष आचरण से उनके संपर्क में आने वाले लोगों के मन में दल के प्रति विश्वास पैदा होता है। इसीमें से प्रत्यक्ष सदस्यता एवं सहानुभूति रखने वाले लोगों का पहला वृत्त बनता है। इसी में से आगे चलकर ''उपकारक अलिप्तता का क्षेत्र'' उत्पन्न होता है। यह सब मिलाकर दल-संगठन के लिए आवश्यक पूर्वसिद्धता पूर्ण होती है। बिना इस पूर्व तैयारी के केवल धुआँधार प्रचार और नेता की छवि-निर्माण करने के आधार पर दल के प्रभाव को बढ़ाने के प्रयास वैसे ही होते हैं जैसे कि धरती पर जड़ न रखने वाली पंतग का आकाश में मंडराना। पंडित जी का स्पष्ट मत था कि पूर्वसिद्धता ठीक करने के बाद ही आवश्यकता के अनुसार धुआँधार प्रचार का तंत्र कभी-कभी स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु उस कार्य को सफलतापूर्वक करना हो, तो ऐसी पूर्वसिद्धता के बिना वह भी संभव नहीं हो पाता। (कन्फ्यूशियस ने कहा है, ''सत्ता प्राप्ति का एक मार्ग है—लोगों को जोड़िए और मान लीजिए कि सत्ता आपके हाथ आ गयी। लोगों को जोड़ने का एक मार्ग है—उनके मनों को जीतिए और मानकर चलिए कि लोग आपके साथ हो गये हैं") इतना ही नहीं, अपितु ऐसी पूर्वसिद्धता के बिना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कार्यकाले समुत्पन्ने दल को धन और जन प्राप्त भी हो, तो उनका पूर्ण और उचित उपयोग नहीं किया जा सकता। ऐसे शास्त्रशुद्ध ढंग से दल के संगठन की नींव डालने का काम पंडित जी ने किया। वे एक कुशल सगठक तो थे ही, किंतु एक श्रेष्ठ विचारक के नाते उनके जीवन का दूसरा पक्ष जनता के सम्मुख इतनी प्रखरता से आया कि लोगों ने एक श्रेष्ठ संगठक की उनकी भूमिका को भुला दिया। एक विचारक की भूमिका ने उनकी संगठक की भूमिका के साथ यह एक प्रकार से अन्याय ही किया।

एक बार श्री गुरुजी ने कहा था, "हम लोग संगठनशास्त्र के विशेषज्ञ हैं।"

राजनीतिक दल का संगठन करने के क्षेत्र में पंडित जी ने श्री गुरुजी के इन शब्दों को पूर्णत: सार्थक कर दिखाया।

दल का संगठन खड़ा करने की प्रक्रिया में एक महत्त्वपूर्ण भाग होता है प्रत्येक स्तर पर कार्यकर्ताओं की सुसंवादी टोली या कार्यदल (टीम) तैयार करना। इस टीम के सभी कार्यकर्ता एक ही ध्येयनिष्ठा के पथिक होते हैं। ध्येय-प्राप्ति की लगन से वे प्रज्ज्वलित होते हैं। एक ही ध्येय के पुजारी और एक ही मार्ग के पथिक होने के कारण एक-दूसरे के प्रति प्रेम और विश्वास को लेकर वे चलते हैं। ऐसी सुसंवादी टोली को नेपोलियन हिल ने Master Mind Group कहा था। संगठन की शक्ति का मर्म यही है कि इस टोली के कार्यकर्ताओं की संख्या बढ़ती जाये और प्रत्येक कार्यकर्ता की ध्येयनिष्ठा एवं गुणवत्ता का निरंतर विकास होता जाये। पंडित जी इस बारे में अखण्ड सतर्क रहा करते थे कि ऐसे समूह का प्रत्येक स्तर पर निर्माण हो और वह संख्यात्मक तथा गुणात्मक दोनों दृष्टियों से निरंतर बढ़ता जाये। (संख्या एवं गुणात्मकता के अनुपात का मार्गदर्शक उदाहरण नेपोलियन के इन शब्दों में पाया जा सकता है—",आज के ये ही सुन्दर प्रशियन जेना में १:३ और मौण्टमिरेल में १:६ के अनुपात में थे।" गुरु गोविंदसिंह ने कहा था, "सवा लाख से एक लड़ाऊँ।") इसके लिए पंडित जी सम्मेलन, अधिवेशन आदि प्रकट सार्वजनिक समारोहों की अपेक्षा, एक-एक कार्यकर्ता के साथ अनौपचारिक बातचीत करने से लेकर अभ्यास-शिविरों तक कार्यकर्ता-निर्माण करने के सभी कार्यक्रमों को अधिक महत्त्व देते थे। २७ जून १९५९ से पुणे में लगे १० दिन के अखिल भारतीय अभ्यास-शिविर का आज भी महाराष्ट्र के कार्यकर्ताओं को स्मरण है। उससे पूर्व सन १९५७ में ८ अगस्त से १८ अगस्त तक छत्तीसगढ़ विलासपुर में एक अखिल भारतीय अभ्यासशिविर आयोजित किया गया था। इन सभी अभ्यास-शिविरों में कार्यकर्ता तैयार करने की दृष्टि से विशेष सतर्कता बरती जाती थीं। विविध बैठकों में इसी पर विशेष बल दिया जाता था। इन सबका फल पंडित जी के जीते जी ही दिखाई देने लगा था। सभी स्तरों पर कार्यकर्ताओं के दल तैयार होने लगे थे। उनके कार्यकर्ताओं का गुणात्मक विकास तो हो ही रहा था, उस गुणात्मकता के साथ ही प्रत्येक कार्यदल (टीम) के कार्यकर्ताओं की संख्या भी बढ़ती जा रही थी।[१२]

पंडित जी लोकतंत्र के कट्टर समर्थक थे, किंत उन्हें यह स्वीकार नहीं था कि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लोकतंत्र पाश्चात्य पद्धति का ही हो। भारतीय परंपरा के साथ सुसंगत रहने वाला लोकतंत्र उन्हें अभिप्रेत था। भारत सब से विशाल लोकतंत्र है, किंतु उन्हें दुख था कि उसे सबसे श्रेष्ठ लोकतंत्र नहीं कहा जा सकता। लोकतंत्र की सफलता के लिए लोकशिक्षण को वे अनिवार्य मानते थे। दल-संगठन एवं जन-आंदोलन का प्रभाव अंत में लोकशिक्षण के स्तर पर ही निर्भर होता है। लोक-शिक्षण का अर्थ केवल प्रचार नहीं होता। आत्मप्रशंसा तथा दूसरों की निंदा दलगत प्रचार के मुख्य आधार होते हैं। किंतु पंडित जी मानते थे कि उसके कारण लोकतंत्र सफल नहीं होगा। अतः दल के कार्यकर्ताओं के शिक्षण के साथ ही पंडित जी जन-शिक्षण का भी आग्रह रखते थे। वे कहा करते थे कि रचनात्मक विचार करने वाले दलों एवं नेताओं की संख्या प्रतिदिन कम होती जा रही है और यह बात लोकतंत्र के भविष्य की दृष्टि से चिंताजनक है। लोगों के स्तर पर आकर उनकी समझ में आने वाली भाषा में विषय का प्रतिपादन करना पंडित जी की विशेषता थी। उदाहरण के लिए, एक बार अल्पशिक्षित श्रोताओं के सम्मुख 'संस्कृति का अर्थ क्या है?'— यह कठिन विषय रखने का दायित्व उन पर आया। उस समय उन्होंने एक उदाहरण दिया। उन्होंने कहा, "हर मनुष्य को किसी न किसी समय जमुहाई आती ही है। वह स्वाभाविक ढंग से आ जाये, तो वह है प्रकृति;किंतु जानबूझकर मुँह टेढ़ा-मेढ़ा कर मुँह से ऊँची आवाज निकालना है विकृति। कतई कोई आवाज एवं प्रदर्शन के बिना जमुहाई करते समय मुँह के आगे रूमाल धरना, यह हुई संस्कृति।" इतने सरल शब्दों में कठिन विषय को प्रस्तुत करने की कला पंडित जी को अवगत थी। वे उत्तम लोकशिक्षक थे। किंतु वे सोचते थे कि केवल सत्ता के पीछे दौड़ने वाला राजनीतिक व्यक्ति यथार्थ में लोक-शिक्षण का काम नहीं कर सकेगा। जिसे सत्तारूढ़ होने की कतई इच्छा नहीं, वही हार्दिकता से लोकशिक्षा का काम कर सकेगा।

यर्थाथ में लोकशिक्षण का काम राजनीतिक नेताओं के लिए सुविधाजनक नहीं होता। उदाहरण के लिए आज पश्चिम में और इसीलिए भारत में भी भौतिकता प्रधान अधिकारवाद का बोलबाला है। इस प्रवाह का सामना करते हुए कर्तव्य-धर्म का आग्रहपूर्वक प्रतिपादन करने वाले केंट, कार्लाइल, मेजिनी, रेनोबीयर तथा ब्रैडले आदि पुरुष अपवाद ही हैं। कुल पश्चिमी मानस का रुझान अधिकारवाद की ओर है। अतः भारतीय सुशिक्षित लोग भी अधिकारवादी ही हैं। विचार की इस लहर के विरुद्ध खड़े होकर भारतीय संस्कृति के कर्तव्यधर्म के विचार का दो टूक प्रतिपादन करना इतना सरल नहीं था। किंतु सस्ती लोकप्रियता की कीमत देकर भी पंडित जी ने कर्तव्यधर्म की घोषणा की। ऐसे लोकशिक्षण के अभाव में, जैसा कि बिल ड्यूरैण्ट ने कहा है, क्रांतिकारी सफल हो गये तो वे उन्हीं लोगों की नीति एवं मार्ग का अनुसरण करते हैं जिन्हें उन्होंने अपदस्थ किया होता है।

जन-नेता अपने राष्ट्र का सजग प्रहरी होता है। वह जागता रहता है, इसीलिए अन्य लोग आराम की नींद सो सकते हैं। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद थोड़े ही समय में श्री गुरुजी एवं अन्य देशभक्तों को भारत में काम करने वाली विदेशी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गुप्तचर संस्थाओं की गतिविधियों के बारे में चिंता लगने लगी थी और उसे उन्होंने प्रकट भी किया था। मतों की याचना करने वाले सत्तारूढ़ एवं विपक्षी दलों को भी लगता था कि राजनीतिक क्षेत्र में इस प्रश्न को स्पर्श करना एक मर्म-स्थान पर उठे फोड़े को धक्का लगाने जैसा होगा। कारण ऐसी गुप्तचर संस्थाओं की गतिविधियाँ देशद्रोही होने पर भी उन सब के इकट्ठा मतों की 'लाबियाँ' उस समय विद्यमान थीं और उन्हें दुख पहुँचाना सत्ताकांक्षी लोगों के लिए सुविधाजनक नहीं था। राजनीतिक क्षेत्र में पंडित जी ऐसे पहले नेता थे जिन्होंने विशुद्ध राष्ट्रहित की भावना से प्रेरित होकर वोट बैंकों की परवाह न करते हुए इस प्रश्न पर आवाज उठायी। उस समय उनकी बातें राजनीतिक क्षेत्रों में अरण्य-रुदन के समान लगती थीं। इस संबंध में उचित पग उठाने का मुख्य दायित्व सरकार पर था, किंतु पंडित जी की मृत्यु तक और उसके पश्चात् भी सरकार ने इन चेतावनियों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। संवेदनशील विषय होने के कारण धैर्य से काम लेना आवश्यक था। किंतु अंत में सरकार की निष्क्रियता असहनीय होने के कारण २० नवम्बर, १९७२ को जनसंघ ने प्रकट रूप से मांग की कि भारत में विद्यमान सभी विदेशी गुप्तचर संस्थाओं की गतिविधियों की जाँच करने के लिए एक आयोग नियुक्त किया जाय। प्रकट प्रस्ताव बाद में हुआ। किंतु इस प्रश्न को राजकीय मंच से वाणी देने का काम सर्वप्रथम पंडित जी ने ही किया, यह बात उनकी विशुद्ध मातृभक्ति, दूरदर्शिता एवं अखण्ड सावधानवृत्ति का परिचय देने वाली है। संभाजी राजा को लिखे पत्र में समर्थ रामदास ने आग्रहपूर्वक लिखा था, "अखण्ड सावधान रहिए।" यह सावधानता रखने वाला ही सफल संगठक, संघर्षकारी एवं लोकशिक्षक बन सकता है।

सार्वजनिक संस्था एवं सामाजिक कार्य का आर्थिक व्यवहार एकदम व्यवस्थित और कुशल होना चाहिए, इस बारे में भी पंडित जी ने प्रारम्भ से ही आग्रह रखा था। किंतु सन १९६७ के चुनाव के बाद कुछ प्रांतों में जनसंघ के साथ संविद सरकारें सत्ता में आयीं और उसके बाद इस विषय के बारे में उनकी जागरूकता और भी बढ़ गयी। कलकत्ता के एस.बी. दांडेकर एंड कंपनी के श्री वसंत विनायक बापट को पंडित जी ने योजनापूर्वक दिल्ली के केन्द्र-कार्यालय, बम्बई के महाराष्ट्र राज्य-कार्यालय और लखनऊ के उत्तरप्रदेश राज्य-कार्यालय के लेखा (accounts) की जांच करने के लिए और वहाँ के आर्थिक व्यवहारों को अनुशासन में लगाने के लिए भेजा था। पंडित जी की योजना थी कि अन्य राज्यों में भी श्री बापट इसी उद्देश्य से प्रवास करें।

सच्चा लोकशिक्षक एवं संगठनशास्त्र का ज्ञाता ही आंदोलन का नेतृत्व सफलतापूर्वक कर सकता है। पंडित जी का राजनीतिक कार्यकाल एक आंदोलनपर्व ही था। विभिन्न प्रश्नों एवं स्तरों पर अनेक आंदोलन चल रहे थे। उन सबकी सूची यहाँ देने का कोई कारण नहीं। उनके कार्यकाल में पहला आन्दोलन काश्मीर-सत्याग्रह ही था। ६ मार्च १९५३ को दिल्ली में काश्मीर-सत्याग्रह प्रारंभ हुआ। देश की अखण्डता के लिए जम्मू की प्रजा परिषद् द्वारा प्रारम्भ किया गया यह आंदोलन जनसंघ ने अपने हाथ में लिया और उसे देशव्यापी स्वरूप

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दिया। ११ मई को डा. श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने जम्मू में प्रवेश कर अपने आपको गिरफ्तार करवा लिया और २३ जून को वे राष्ट्र की बलिवेदी पर चढ़ गये। पंडित जी के कार्यकाल का यह प्रथम आंदोलन था। इस सत्याग्रह में ११ हजार लोगों ने भाग लिया था।[१३]

सबसे बड़ा आंदोलन कच्छ समझौते के विरुद्ध हुआ। १ जुलाई, १९६५ को कच्छ समझौते पर हस्ताक्षर हुए। २३ जुलाई से ९ अगस्त तक की अवधि में संपूर्ण देश में कच्छ समझौते के विरोध में एक लाख प्रदर्शन हुए और १६ अगस्त १९६५ को संसद् भवन के सामने पाँच लाख लोगों का विशाल प्रदर्शन किया गया। ऐसे सभी छोटे-बड़े आंदोलनों का मार्गदर्शन करने का काम पंडित जी करते थे। यह बोध कि पंडित जी आंदोलन के सूत्रसंचालक हैं, कार्यकर्ताओं के लिए प्रेरणादायी बन जाता था। कार्यकर्ता पंडित जी की ओर केवल एक माननीय नेता के रूप में नहीं देखते थे। सबकी एक ही भावना होती थी कि पंडित जी हमारे ध्येयदेवता की राजनीतिक क्षेत्र में अवतीर्ण सगुण साकार मूर्ति हैं। अतः अटूट साहस एवं त्याग करने की इच्छा कार्यकर्ताओं के मन में जागती थी। सन १९५४ के जुलाई मास के अंतिम सप्ताह में माननीय विनायकराव आपटे के नेतृत्व में 'आजाद गोमंतक दल' का नाम धारण कर राजधानी सेलवासा सहित दादरा नगर-हवेली की मुक्ति का सफल अभियान चलाने वाले सर्वश्री त्र्यम्बक भट्ट, विश्वनाथ नरवणे, सुधीर फड़के, नाना काजरेकर, राजाभाऊ वाकणकर, रमण गुजर, शिवाजी यादव, धनाजी बुरंगुले, विष्णु भोपले, शांताराम वैद्य, बालकृष्ण साने, वसंत बड़वे, बाबासाहब पुरंदरे, श्री कृष्ण भिड़े, बिन्दुमाधव जोशी और उनके बहादुर साथी, १५ अगस्त १९५४ को गोवा में पणजी के सचिवालय पर पुर्तगाली सैनिकों की गोलाबारी की परवाह न करते हुए भारत का तिरंगा फहराने वाले श्री हेमंत सोमण, २३ जून १९५५ को गोवा सीमा पार कर मृत्यु के मुँह में प्रवेश करने वाले श्री जगन्नाथराव जोशी, या १५ अगस्त १९५५ को गोवा-संग्राम में आत्म-बलिदान करने वाले राजाभाऊ महांकाल, सबके प्रेरणा-स्रोत पंडित जी ही हुआ करते थे। (यह दुख की बात है कि दादरा नगर हवेली के मुक्ति-संग्राम के वीरों को आधुनिक भारतीय इतिहास में उचित स्थान नहीं दिया जाता। इस संग्राम में गोवा के सर्वश्री अप्पा करमलकर, विश्वनाथ लवंदे, श्यामराव लाड, प्रभाकर सितारी, तथा मोहन रानडे ने भी भाग लिया था। दादरा नगरहवेली के श्री जयंतभाई देसाई तथा दमण के श्री विष्णु भाई पंड्या ने भी साथ निभाया था।) पंडित जी प्रत्येक आंदोलन के प्रश्नों, उसकी व्यूह-रचना तथा बाह्य परिस्थिति की सूक्ष्म बातों का भलीभांति अध्ययन कर मार्गदर्शन किया करते थे। कार्यकर्ता अपना सब कुछ न्यौछावर करने के लिए सिद्ध रहते और पंडित जी प्रत्येक कार्यकर्ता को पुत्र समान मानते हुए उनके लिए निश्चित योजना बनाते थे।

नेतृत्व के लिए आवश्यक अनेक गुण पंडित जी में थे। फिर भी उनका सबसे बड़ा गुण यह था कि अपने बड़प्पन का बोध उनके मन को कभी स्पर्श तक नहीं करता था। "कमलिनी क्या जाने परिमल" अथवा "मोहे तृण बैटा दूध जैसा मीठा" जैसी उनकी अवस्था थी। उनके मन में अपना विचार ही नहीं होता था।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सामने वाले व्यक्ति के साथ वे देखते ही एकरूप हो जाते थे। कालीकत अधिवेशन का वर्णन करते हुए श्री पी. परमेश्वरन ने कहा है:

"दीनदयाल जी अधिवेशन के स्थान पर मोटर में बैठकर कभी नहीं आते थे। अन्य प्रतिनिधियों की भांति वे भी पैदल चलकर जाते। प्रवेशद्वार के पास रुक कर वहाँ के स्वयंसेवक को अपना प्रवेश-पत्र दिखाते। जहाँ ठहरे होते थे वहाँ धोबी कपड़े लेने के लिए आता तो उसे कहते, "बैठो भाई"।इतना बड़ा नेता अपने को भाई कहता है, इसी का धोबी को सादर आश्चर्य लगता था। कुछ ही दिनों में दीनदयाल जी के निधन का समाचार समाचारपत्रों में पढ़ते ही उस धोबी की आँखों में आँसू आ गये थे।"

हिटलर ने अपनी आत्मकथा में कहा है, "एक ही व्यक्ति में तत्त्वचिंतक, संगठक एवं नेता के गुण हों, यह विश्व की अत्यंत दुर्लभ घटना होगी।"

पंडित जी के नेतृत्व-गुणों का साकल्य से विचार करना हो तो भगिनी निवेदिता द्वारा किये गये आद्य शंकराचार्य के नेतृत्व-गुणों के मूल्यांकन का स्मरण हो आना स्वाभाविक है। निवेदिता ने कहा था, "शंकराचार्य जी में सेंट फ्रांसिस की भक्ति, एबेलार्ड की मेधा, मार्टिन लूथर का उत्साह एवं विमुक्तता और लोयोला के इग्नेशियस की व्यावहारिक कार्यक्षमता एकत्रित हुई थी।"

पंडित जी के बारे में यह सब बराबर लागू होता था। संस्मरण सैकड़ों हैं। प्रवास में सदैव दल के सामान्य कार्यकर्ताओं के घर उनका निवास होता और घर के लोगों को लगता कि वे अपने परिवार के ही हैं। अपनी व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं के लिए कार्यकर्ता को कष्ट न देना उनका स्वभाव था। परिणामस्वरूप, वास्तव में उन्हें क्या रुचिकर लगता है और क्या नहीं, किसी को पता ही नहीं होता था। उनकी भाषा मृदु, स्वभाव मधुर और आदत प्रचारक को शोभा देने वाली थीं। श्री भा.कृ. केलकर ने हाल ही में प्रकाशित अपने एक लेख में पंडित जी के आत्मविलोपी व्यक्तित्व का वर्णन 'वेदांती व्यक्तित्व' कहकर किया है, जो एकदम यथार्थ है। परिणामस्वरूप उनके सहवास में रहने वाले व्यक्ति को वे सदैव अपने जैसे या अपने में से ही एक लगते थे। ऐसे सभी निकटवर्तियों को पंडित जी के आकस्मिक निधन के बाद उनकी सच्ची महानता का मानो एकाएक साक्षात्कार हुआ और विश्वरूप दर्शन के कारण विभ्रांत अर्जुन के समान उनकी भी मनःस्थिति हो गयी :

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण, हे यादव, हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात् प्रणयेन वाऽपि।।

वे लोग सचमुच भाग्यशाली हैं जिन्हें संगठनाशास्त्र की दृष्टि से पंडित जी के सहवास में रहकर काम करने का अवसर मिला। पंडित जी के ऐसे अनेक सहयोगी आज भी राजनीति में एवं विपुल प्रसिद्धि के प्रकाश में हैं। उन्हें आज कोई भी भुला नहीं सकता। वे अपने-अपने नेतृत्व को अपने कर्तृव्य के बल पर बनाये रखे हुए हैं। किंतु कुछ प्रमुख संगठक एवं सहयोगी कार्यकर्ता आज विभिन्न कारणोंवश राजनीति के क्षेत्र के बाहर हैं। कर्नाटक के वरदराज सेठी, तमिलनाडु के वासुदेवन, महाकौशल के सुभाष बनर्जी, नागपुर के जाल गिमी, विंध्य प्रदेश के हुकुमचन्द्र

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जैन, बिहार के ताराकांत झा, आसाम के रमेश मिश्र, उड़ीसा के श्रीधर आचार्य, बम्बई के मधुकरराव महाजन, गुजरात के सुमंत पारीख, श्रीमती हीराबाई अय्यर आदि लोग इस श्रेणी में आते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो राजनीतिक क्षेत्र के तो बाहर हैं, किंतु सार्वजनिक जीवन में कार्य कर रहे हैं। सर्वश्री रामभाऊ गोडबोले, डा. ओमप्रकाश मैगी, प्रभाकरराव फैजपुरकर, पी.परमेश्वरन, श्रीमती सुमतिबाई सुकलीकर, लाला भगवानदास जी, गिरिराज किशोर आचार्य, ये सब लोग विविध मोर्चों पर आज सक्रिय हैं। किंतु दुर्भाग्य से पंडित जी के कुछ सहयोगी कार्यकर्ता इस दुनिया से उठ गये हैं। इनमें बंगाल के रामप्रसाद दास, सत्येन बोस, हरिपद भारती, तथा रामदास कलसकर, आंध्र के गोपालराव ठाकुर, कर्नाटक के सौमित्री शर्मा, एम.ए. वेंकटराव तथा भाऊराव देशपांडे, दिल्ली के टेकचंद शर्मा, गुजरात के वसंत गजेंद्रगडकर, महाराष्ट्र के रामभाऊ म्हालगी व प्रेमजी भाई असर, विदर्भ के बबनराव देशपांडे, महाकोशल के गिरिराजकिशोर कपूर, मद्रास के वी. राजगोपालाचारी तथा उत्तरप्रदेश के माधवप्रसाद त्रिपाठी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन सब ब्रह्मीभूत महानुभावों का स्मरण ऋषिऋण से अल्प मात्रा में ही सही; मुक्त होने के लिए किया गया है।

अब यह अलग से बताने की आवश्यकता नहीं कि इनमें से अधिकांश लोग रा.स्व.संघ से आये हुए हैं और यह बात स्वभाविक भी है। कारण सन् १९४७ के बाद देश के सभी लोग व्यवहारचतुर हो गये हैं। अपने घर का भोजन कर सेना की रोटियाँ सेंकने के लिए जाने वाले 'पागल' लोग संघ के बाहर शायद ही मिलेंगे।

रा.स्व.संघ एवं भारतीय जनसंघ के आपस में संबंध क्या हैं? यह प्रश्न बार-बार उपस्थित किया जाता है और इस विषय में दोनों के प्रवक्ताओं और तटस्थों के वक्तव्य भी कई बार प्रकाशित होते हैं। श्री ग्रेग बैक्स्टर की भांति जनसंघ का गहन अध्ययन करने वाले एक अन्य विद्वान श्री वाल्टर के. एण्डरसन ने अपने 'जनसंघ-आइडियालाजी एण्ड आर्गेनाइजेशन इन पार्टी बिहेवियर' शीर्षक अंग्रेजी प्रबंध में इस विषय में जो अभिप्राय वयक्त किया है वह विचारणीय है। अपने मुख्य अभिप्राय की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते समय श्री एण्डरसन कुछ अन्य विचारकों द्वारा निकाले गये सामान्य निष्कर्षों का प्रथम निरूपण करते हैं। अपने 'आइडियालाजी एज ए कल्चरल सिस्टम' (सांस्कृतिक प्रणाली के रूप में विचारधारा) शीर्षक अंग्रेजी ग्रंथ में श्री क्लीफर्ड ग्रीट्ज कहते हैं, "इच्छित राजनीतिक उद्देश्यों की ओर जाने के लिए विचारधारा मार्गसूचक मानचित्र का काम करती है।"

श्री राबर्ट माइकेल अपनी पुस्तक 'पोलिटिकल पार्टीज' में कहते हैं, "लोकतंत्रीय राजनीतिक व्यवस्था में काम करने वाले दलों में विषम राजनीतिक घटकों का अधिकतम समर्थन प्राप्त करने के लिए राजनीतिक लक्ष्य को शिथिल करने की प्रवृत्ति होती है।"

इस पुस्तक में राबर्ट माइकेल का एक निष्कर्ष लेनिन के 'व्हाट इज दु बी डन' शीर्षक पुस्तक में निकाले गये निष्कर्ष के साथ मिलताजुलता है। वह निष्कर्ष है,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"वैचारिक दृष्टि से प्रबुद्ध चुनींदा कार्यकर्ताओं का एक अलग वर्ग समाज में काम करते हुए दल को कार्यकर्ता देता रहे तो दल की वैचारिक प्रतिबद्धता शिथिल होने की संभावना बहुत कम होती है।"

इस पष्ठभमि में श्री एण्डरसन जनसंघ की दढता का निदान करते हैं—

"रा.स्व. संघ के कार्यकर्ता भर्ती कर अपनी वैचारिक भूमिका की दृढ़ता मुख्य कार्यकर्ताओं में भलीभांति बनाये रखने में जनसंघ सफल रहा है।"

निष्कर्ष रूप में श्री एण्डरसन कहते हैं, "मेरा मुख्य प्रतिपादन यह है कि निष्ठावान कार्यकर्ताओं की 'टीम' को बनाये रखने की जनसंघ की क्षमता रा.स्व. संघ के साथ उसके निकट संबंधों के कारण ही संभव हो पायी है।"

इस रचना के कारण संघ और स्वयंसेवकों के प्रभाव-क्षेत्रों में काम करने वाली राजनीतिक एवं गैर राजनीतिक संस्थाओं के संबंध क्या कम्युनिस्ट पार्टी और उसके अग्रपंक्ति संगठनों (फ्रंट आर्गेनाइजेशन) जैसे नहीं होंगे? इस पर एण्डरसन का निष्कर्ष है—

"रा.स्व. संघ ने अपने संलग्न संगठनों के साथ एक सहजीवी (symbiotic) संबंध स्थापित किया है। संलग्न संस्थाओं में काम करने वाले कार्यकर्ताओं के लिए समाज में कार्य करने का लक्ष्य स्वीकार कर उसने अपने मूल 'शैक्षणिक' उद्देश्य को बनाये रखा है। गोलवलकर तथा अन्य वरिष्ठ कार्यकर्ता इस बात को जानते हैं कि यदि संघ को समाजव्यापी बनाने की भूमिका बनाये रखनी हो तो प्रचलित राजनीतिक प्रक्रिया से उसे दूर रखना पड़ेगा और संलग्न संस्थाओं में निर्णय लेने की प्रक्रिया से अलिप्तता रखनी पड़ेगी। रा.स्व. संघ का नेतृत्व राजनीति में आकर्षित हो जाता है, तो उपदेशक, 'सांस्कृतिक भाष्यकार', और 'मध्यस्थ' के नाते मान्यता प्राप्त करने के लिए अलिप्तता के जिस वलय की आवश्यकता होती है उसे वह खो देगा। इसके अतिरिक्त उन्हें सचमुच यह भय लगता है कि राजनीतिक क्षेत्र में आवश्यक सौदेबाजी में संघ के प्राणभूत मूल्यों की कट्टरता समाप्त हो जायेगी।"

प.पू. श्री गुरुजी के मन में क्या था और क्या नहीं, यह अलग प्रश्न है, किंतु एण्डरसन जैसे विदेशी प्रेक्षक का यह मन को पढ़ने का प्रयास सराहनीय ही कहा जायेगा।

राजनीतिक क्षेत्र में काम करने वाले स्वयंसेवकों की मानसिकता तथा अभिप्रेरणा के बारे में वे लिखते हैं :

"स्वयंसेवकों का रुझान यह मानने की ओर है कि राजनीति में भाग लेने का अर्थ अपने संघ वाले पूर्व कार्य का ही विस्तार है। जिनमें वैचारिक कट्टरता अधिक है, उनकी दृष्टि में राजनीतिक सहभाग इसलिए स्वागतार्ह नहीं होता कि उसमें भौतिक लाभ अथवा सत्ता मिलने की आशा रहती है। उनका मत है कि 'सांस्कृतिक' कार्य की भांति राजनीतिक कार्य का उद्देश्य भी संघ की विचारधारा को जनमत का अधिकाधिक समर्थन प्राप्त कराना ही होना चाहिए। ऐसा न होता तो सत्ता एवं भौतिक लाभों का वितरण करने की क्षमता न रखने वाले जनसंघ को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इतने प्रदीर्घकाल तक निष्ठावान अनुयायियों का लाभ कभी न मिलता।''

एक विवेकशील विदेशी विचारक का यह अभिप्राय विचारणीय है। इस संबंध में वस्तुस्थिति को अधिकृत रीति से श्री गुरुजी ने 'आर्गनाइजर' के २५ जून १९५६ के अंक में स्पष्ट किया है और उसका उल्लेख इस ग्रंथ में भी विस्तार से आया हैं।

(प.पू. श्री गुरुजी के इस लेख में एक संबंधित बात का उल्लेख नहीं आया है। उस समय ऐसा उल्लेख करना औचित्यपूर्ण न होता। आज उसका उल्लेख करने में औचित्य भंग तो होगा ही नहीं, प्रत्युत् उस समय की परिस्थिति की पूर्ण कल्पना आने की दृष्टि से उसकी जानकारी यहाँ देना आवश्यक भी है। संघ एवं संघ के स्वयंसेवकों के बारे में सरदार पटेल और पंडित नेहरु के दृष्टिकोण कितने भिन्न थे, सब जानते हैं। संघ पर लगा प्रतिबंध उठाने के बाद संघ के बारे में सरदार पटेल के मन में क्या विचार चल रहे थे, उनका स्पष्ट दर्शन उनके एक पत्र में होता है। यह पत्र सरदार पटेल ने श्री वेंकटराम शास्त्री को १६ जुलाई, १९४९ को लिखा था। उसका संबंधित भाग इस प्रकार है—

''आप श्री गोलवलकर से मिलने वाले हैं और उन्हें कुछ हितकारी परामर्श देने वाले हैं। इसकी मुझे प्रसन्नता है। ऐसा परामर्श उनके लिए आवश्यक भी है। आपके प्रांत में क्या परिस्थिति है, आप भलीभांति जानते हैं। आपको यह भी भलीभांति विदित है कि आज कांग्रेस का एकमेव विकल्प अराजकता है। यह मेरी दृढ़ धारणा आपको भी ज्ञात है। इसमें संदेह नहीं कि कांग्रेस संगठन को बल देने वाली कोई भी राजनीतिक शक्ति आज देश में नहीं है। इससे पहले भी मैंने संघ को सलाह दी थी कि उनके विचार से यदि कांग्रेस गलत मार्ग पर चल रही है तो वे कांग्रेस में शामिल होकर भीतर से उसे सुधारें, यही एक मार्ग अब उनके लिए खुला है। आप मेरी इस भूमिका से सहमत हों, तो मेरा सुझाव है कि आप भी उसे स्वीकार करें।''

इस पर अलग से भाष्य करने की कोई आवश्यकता नहीं। मूल पत्र ही पर्याप्त है।)

सत्तावादी राजनीतिक नेता इन सब बातों को कहाँ तक समझ सकेंगे, संदेह ही है। कारण, जैसा कि पहले कहा गया है, एकाग्र चित्त से केवल सत्ता पर दृष्टि रखकर ही वे चला करते हैं। उनकी धारणा होती है कि जीवन में राजनीतिक सत्ता ही सबकुछ है। (वास्तव में राजनीतिक दर्शन में क्रांति हुए बिना भी सत्तापरिवर्तन हो सकता है। ऐसी राजनीतिक क्रांति के बाद भी समाज-रचना में गुणात्मक अंतर नहीं पड़ता। राजनीतिक दर्शन में क्रांति दो प्रकार से होती है। एक तो प्रचलित विचारधाराओं से एकदम भिन्न किसी नयी विचारधारा का विकास करने से और दूसरे विद्यमान विचारधाराओं को अब तक अप्रचलित नया अर्थ प्रदान करने से।) वास्तव में राज्यसत्ता को ही सब कुछ मानने की धारणा गलत है और समग्रता से प्रत्येक पक्ष का विचार करने की हिंदू परंपरा से हटकर है, साथ ही सच्चे बुद्धिवादी मन को न जंचने वाली है। सच्चा बुद्धिवादी— वह हिन्दू परंपरा का अनुयायी हो या

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

न हो– समग्र बुद्धि से ही प्रत्येक प्रश्न का विचार करता है। उदाहरण के लिए, 'रेडिकल ह्यूमैनिस्ट' विचारक श्री वी.एम. तारकुंडे का यह वक्तव्य देखिए–

"राजनीति क्योंकि समाज-जीवन का ही एक भाग होता है, राजनीतिक उद्देश्य एवं व्यवहार एक दूसरे के साथ जुड़े होने चाहिए। वे परस्पर सम्बद्ध हों और इतना ही नहीं, अपितु मूलभूत मानवीय प्रवृत्ति, व्यक्ति के समाज में स्थान और इतिहास तथा उत्क्रांति की सामान्य दिशा की स्पष्ट कल्पना रखकर अस्तित्व के समग्र विचार के साथ उनकी सुसंबद्धता भी होनी चाहिए।"

इस विशिष्ट संदर्भ में यह अलग से कहने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दू विचार-पद्धति की दिशा यही है।

सारांश यह कि प्रतिज्ञा ग्रहण करने के क्षण से पंडित जी का व्यवहार आदर्श स्वयंसेवक को शोभा देने वाला ही था।

राष्ट्रजीवन के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करने वाले स्वयंसेवकों से संघ को जो अपेक्षाएं रहती हैं, उनको उन्होंने शतप्रतिशत पूरा किया। अपने क्षेत्र के कार्य की रचना एवं विचारों का विकास उन्होंने संघ-सिद्धांतों के प्रकाश में ही किया। सामान्य मनुष्य को यह मोह होता है कि अपने क्षेत्र में शीघ्र यश प्राप्त करने के लिए उसमें पहले से चली आ रहीं आदतों एवं रीतिनीतियों को अंगीकार कर ले। पंडित जी ऐसे मोह के शिकार कभी नहीं हुए। उन्होंने राजनीतिक क्षेत्र में संघ-संस्कारों के लिए अनुकूल पद्धति एवं रीति-नीतियों का सूत्रपात किया। वे जानते थे कि इसके परिणामस्वरूप तात्कालिक यश-प्राप्ति में बाधा आयेगी। किंतु उनके सोचने का ढंग यह था कि दूसरों द्वारा अस्वच्छ किये गये कार्य-क्षेत्र को स्वच्छ एवं परिष्कृत करना अपना काम है। उसके कारण कार्यसिद्धि में विलम्ब हो जाये तो भी चल सकता है। राजस्थान में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी थी कि जमीदारी उन्मूलन के सम्बन्ध में जनसंघ अपनी भूमिका पर अटल रहता है तो उसकी तत्काल बड़ी हानि होगी और इस सिद्धांत के साथ समझौता कर ले तो वह हानि टल सकती है। उस समय दल को तत्काल लगने वाले आघात को स्वीकार करते हुए भी पंडित जी ने सिद्धांत के साथ समझौता करने से स्पष्ट इन्कार कर दिया और उसके परिणामस्वरूप होने वाली हानि को स्वीकार कर लिया। अनेक लोगों को इस घटना का स्मरण होगा। इसी प्रकार के अन्य कठोर निर्णय उन्हें करने पड़े थे।) ध्येयनिष्ठा, विचारों की स्पष्टता, एवं दूरदर्शिता–तीनों गुणों का संगम पंडित जी में हुआ था, अतः वे जानते थे कि अशास्त्रीय शीघ्रता के कारण अक्षम्य विलंब ही होता है। श्रीगुरुजी के 'धीरे-धीरे शीघ्रता करो' वाले मार्गदर्शन का रहस्य उन्होंने भलीभांति पहचाना था। उसी प्रकार श्री गुरुजी की एक अन्य सूचना का मर्म भी उन्होंने आत्मसात् कर लियां था। वह सूचना थी–इतर क्षेत्रों में कार्य करने वाले स्वयंसेवकों को शाखा के साथ नित्य संबंध रखने के बारे में अन्य स्वयंसेवकों से अधिक आग्रही रहना चाहिए। इन सभी परहेजों का निरंतर पालन करते हुए उन्होंने ऐसे स्वयंसेवकों के लिए एक परिपूर्ण आदर्श प्रस्तुत किया था। इस दृष्टि से पंडित जी की विशेषताओं का व्यवच्छेदक विवरण माननीय भाऊराव देवरस ने २५ सितम्बर, १९७९ को दीनदयाल शोध संस्थान में अपने भाषण[१४] में दिया था।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(पश्चिम के पुनर्रचित नेतृत्वशास्त्र की परिभाषा में कहा जा सकता है कि पंडित जी का नेतृत्व रूपान्तरकारी (Transforming) नेतृत्व था, कार्यसम्पादक (Transactional) नेतृत्व नहीं।

३.

इसका कोई सामान्य नियम नहीं बताया जा सकता कि इतिहास निर्माण करने वाले किसी भी महापुरुष का व्यक्तिदर्शन एवं विचारदर्शन प्रकाशित करने का उचित समय कौन सा होता है? यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि विचारदर्शन के लिए उचित समय व्यक्तिदर्शन के लिए भी उचित ही होगा।

अनेक श्रेष्ठ पुरुषों के बारे में दिखाई देता है कि, उनके कार्य का यर्थाथ मूल्यांकन उनके समकालीन लोगों द्वारा ठीक से नहीं किया जा सकता। समकालीन लोगों के सम्मुख एक कठिनाई होती है– उस कालखंड में उत्पन्न समस्याएं। उसमें विभिन्न लोगों द्वारा की गयी नाना प्रकार की भूमिकाओं एवं परिणामस्वरूप पैदा हुए पूर्वाग्रहों के कारण समकालीन लोग घटनाक्रम के अंधड़ में उसी प्रकार फँस जाते हैं जैसे कोई स्वच्छ दृष्टि वाला व्यक्ति भी आंधी में घिर जाने के बाद आँखों में धूल जाने के कारण सामने की वस्तु को स्पष्ट रूप में नहीं देख पाता। ऐसे लोगों के लिए इसी कारण बड़े लोगों के जीवन तथा उनके कार्य के बारे में यथार्थ मूल्यांकन करना संभव होता है। इस बात के लिए समय लगता है-कभी कभी कुछ दशकों का, और कभी तो कुछ सदियों का भी।

इस प्रकार यह एक विलक्षण प्रक्रिया है। नेपोलियन के वाटरलू से लौटने के बाद समूचे फ्रैंच राष्ट्र द्वारा किया गया उसका मूल्यांकन बहुत ही घटिया स्तर का था। किंतु कुछ दशकों बाद उसी समूचे फ्रैंच राष्ट्र का यह मत बना कि नेपोलियन उनका बहुत श्रेष्ठ राष्ट्रपुरुष था। उसकी अस्थियों को गौरवपूर्वक सेंट हेलिना से लाया गया और उसकी मूर्तियाँ खड़ी की गयीं।

जीसस क्राइस्ट को जिन राज्यकर्ताओं ने 'एक दुष्ट मनुष्य' कहकर सूली पर चढ़ा दिया था, उन्हें ३३० वर्ष के बाद अपना मूल्यांकन बदलना पड़ा। वे राज्यकर्ता जीसस को केवल एक श्रेष्ठ पुरुष कहकर ही रुक नहीं गये, अपितु उन रोमन शासकों ने उसके मत को भी स्वीकार कर लिया।

शायद संस्थापित उदाहरण जोन आफ आर्क का होगा। केवल गलत प्रचार के शिकार लोगों ने इस महान नारी की निंदा की। वैटिकन सिटी ने भी उसे एक 'नीच स्त्री' घोषित किया और उसे जीवित जलाया गया। किन्तु पाँच सौ वर्ष बाद उसी वैटिकन सिटी ने उसको 'सेंट' कहकर गौरवान्वित किया।

ऐसे कई उदाहरणों से ध्यान में आता है कि किसी की श्रेष्ठता का निर्णयात्मक मापदंड वर्तमानकालीन प्रसिद्धि या लोकप्रियता नहीं हुआ करती। उसकी श्रेष्ठता इस बात पर निर्भर होती है कि उसके कार्य की छाया कितने दूर तक पड़ती है।

अत: जो-जो श्रेष्ठ और इसीलिए तूफानी व्यक्तित्व होता है, उसके बारे में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समकालीन मूल्यांकन को प्रमाण नहीं माना जा सकता। इस संदर्भ में यह ध्यान में लाने योग्य है कि कम्युनिस्ट चीन ने चांगकाईशेक को चार दशक बाद उत्कट देशभक्ति का प्रमाणपत्र दिया था।

सारांशतः, अनेक महापुरुषों के बारे में कहा जा सकता है कि उनका यथार्थ व्यक्तिदर्शन कराने के लिए बीच में कुछ काल का बीत जाना आवश्यक और कभी-कभी अपरिहार्य भी हो जाता है।

व्यक्ति के मूल्यांकन में जिस प्रकार कुछ समय लग जाना स्वाभाविक होता है, उसी प्रकार मौलिक, सर्वांगीण एवं उच्च विचारों के मूल्यांकन के लिए भी वह आवश्यक होता है। किन्तु विचारदर्शन के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता। विचारदर्शन यथाशीघ्र एवं विस्तृत मात्रा में होते रहना चाहिए। यह कार्य जितनी द्रुत गति से होगा, उतने शीघ्र ऐसे विचारों का योग्य मूल्यांकन करना विचारकों के लिए संभव होगा।

किन्तु अनेक विचारकों के बारे में दिखाई देता है कि उनके विचार-दर्शन—अर्थात् रचना एवं प्रचार—पर शायद ग्रहदशा का भी परिणाम होता होगा। पंडित जी ने जिस 'दैशिकशास्त्र' के आधार पर कतिपय सिद्धांतों का प्रतिपादन किया, वह पुस्तक सन् १९२० में प्रकाशित हुई थी। किन्तु चार दशकों बाद पंडित जी का ध्यान उस ग्रंथ की ओर गया। कोपरनिक्स की पुस्तक की पहली मुद्रित प्रति उसकी मृत्यु के कुछ ही घंटों पूर्व उसे मिली थी। उसके बाद उस पुस्तक की चर्चा कहीं भी नहीं हुई। ३०० वर्ष बाद एक शास्त्रज्ञ ने उसका केवल उल्लेख मात्र किया और उसके ५० वर्ष बाद उस पुस्तक को नकारात्मक मान्यता मिली। कारण, प्रकाशन के ८० वर्ष बाद पोप महाशय ने उस पुस्तक को प्रक्षिप्त घोषित किया।

महाराष्ट्र में 'ज्ञानेश्वरी' की मान्यता सर्वमान्य है। किन्तु उस ग्रंथराज को भी जनमान्यता मिलने के लिए पर्याप्त प्रतीक्षा करनी पड़ी। ज्ञानेश्वरी का लेखन पूरा होने के ढाई-पौने तीन सौ वर्ष बाद संत एकनाथ ने उसकी एक पुरानी प्रति खोज निकाली, उसे शुद्ध किया तथा ठीक से संवार कर फिर से जनता के सम्मुख रखा। तब जाकर उसे प्रतिष्ठा प्राप्त हुई।

विचार-दर्शन में इस प्रकार से विलम्ब होने के और भी कई उदाहरण हैं। किन्तु यह विलम्ब अक्षम्य ही माना गया है। कारण, विचारों के प्रसार को देर हो जाती है तो उसके उचित मूल्यांकन में उससे भी अधिक देर होगी और इसमें मानवजाति की बड़ी हानि होती है।

पंडित जी की मृत्यु के बाद अनेकों के मन में तीव्र इच्छा जागी थी कि उनकी विचारधारा के बारे में शोध का कार्य प्रारम्भ कर देना चाहिए और साथ ही 'पंडित दीनदयाल उपाध्याय : समग्र (व्यक्ति व विचार) दर्शन' तैयार करने का उपक्रम भी तुरंत हाथ में लिया जाना चाहिए। किन्तु प्रारम्भ में किसी न किसी कारण इस काम में विलम्ब होता गया और आपातकाल के बाद की वेगवती घटनाओं के कारण अंत में यह काम धरा ही रह गया।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विलम्ब होने के और भी कुछ कारण थे। यह तो प्रश्न था ही कि इस विषय पर अधिकारी लेखनी के धनी कौन हैं, किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण कठिनाई थी ऐसा उद्यम सफल करने के लिए आवश्यक साधन-सामग्री की कमी।

देश की विचार-प्रक्रिया में पंडित जी का विपुल एवं गतिशील योगदान था। उसकी तुलना में उनके द्वारा तथा उनके बारे में लिखा गया बहुत कम साहित्य उपलब्ध है। यह वस्तुस्थिति है।

पंडित जी के राजनीतिक जीवन में प्रवेश करने से पूर्व राष्ट्रधर्म प्रकाशन ने उनके द्वारा लिखित, 'चन्द्रगुप्त मौर्य' तथा 'जगद्गुरु शंकराचार्य', ये दो चरित्रात्मक पुस्तकें प्रकाशित की थीं। उस समय पंडित जी साप्ताहिक 'पांचजन्य' एवं दैनिक 'स्वदेश' (लखनऊ) के संपादक के नाते काम कर रहे थे। उसके बाद के काल में उनकी कुछ और पुस्तकें प्रकाशित हुईं, 'The two Plans' (1958), 'Devalution—A Great Fall' (1966), 'Integral-Humanism' (1967), 'जनसंघ: सिद्धांत और नीति', 'अखण्ड भारत', 'इनको भी आजादी चाहिए', 'अमेरिकी अनाज: पी.एल. ४८०', 'भारतीय अर्थनीति (विकास की एक दिशा)', 'बेकारी की समस्या और उसका हल', 'एकात्म मानववाद', 'विश्वासघात', 'टेक्स या लूट', 'राष्ट्रजीवन की समस्याएं', आदि रचनाएं उन्होंने स्वयं लिखी हैं। कुछ ग्रंथ उनके भाषणों तथा लेखों के संकलन हैं। १९६८ में ही पंडित जी के 'आर्गनाइजर' में लिखे लेखों का एक संकलन 'जयको पब्लिशिंग हाउस' द्वारा 'Political Diary' नाम से प्रकाशित हुआ था। इसकी मार्मिक प्रस्तावना काशी विश्वविद्यालय के उस समय के कुलाधिपति डा. संपूर्णानंद ने लिखी थी। श्री भानुप्रताप शुक्ल तथा श्री रामशंकर अग्निहोत्री ने, 'राष्ट्रजीवन की दिशा' नामक महत्त्वपूर्ण संकलन संपादित किया। 'एकात्म मानववाद', 'एकात्म मानववाद—समग्र दर्शन की रूपरेखा', 'राष्ट्र चिंतन' आदि संकलन भी प्रकाशित हुए हैं। दीनदयाल शोध संस्थान द्वारा निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं:—

१. पंडित दीनदयाल उपाध्याय: व्यक्ति-दर्शन, सं. कमलकिशोर गोयनका (हिन्दी) और सुधाकर राजे (अंग्रेजी), १९७२
२. एकात्म मानव दर्शन (हिन्दी-अंग्रेजी) १९७९
३. गांधी, लोहिया और दीनदयाल (हिन्दी), प्राक्कथन-लेखक प्रो. मधु दण्डवते १९७८
४. Gandhi, Lohia & Deendayal, Foreword by Prof. Madhu Dandavate १९७८ (दोनों की पृथक्-पृथक् सामग्री)
५. Destination (ed. Sudhakar Raje), १९७८
६. पंडित दीनदयाल उपाध्याय—व्यक्तित्व एवं जीवन-दर्शन, लेखक—डा. हरिश्चन्द्र बर्थ्वाल। इसके अतिरिक्त—'Who killed UPADHYAYA?', 'पंडित दीनदयाल उपाध्याय हत्याकांड मुकद्दमा', श्री तनसुखराम गुप्त द्वारा लिखित 'पंडित दीनदयाल उपाध्याय—महाप्रस्थान', श्री शंकर सुल्तानपुरी कृत 'अमर शहीद पं. दीनदयाल उपाध्याय', श्री दि.घ. दातार का 'एकात्म मानववाद', श्री ठेंगड़ी की दो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पुस्तकें, 'एकात्म मानववाद: एक अध्ययन' और 'His Legacy: Our Mission', श्री एन. मधुकरराव लिखित 'दीनदयाल उपाध्याय' तथा उसका श्री प्रकाश देशपांडे द्वारा किया गया मराठी अनुवाद, श्री दाऊदयाल शास्त्री का प्रबंध-काव्य 'राष्ट्रपुरुष पंडित दीनदयाल उपाध्याय' (डा. मुकंदराव आगासकर की प्रस्तावना सहित)आदि पुस्तकें भी पंडित जी के जीवन तथा विचारों पर प्रकाश डालने वाली हैं। प्रकाशन के बारे में भारतीय जनसंघ के कार्यालय-प्रमुख श्री जगदीश माथुर, राष्ट्रधर्म प्रकाशन लखनऊ, जयको पब्लिशिंग हाउस, दीनदयाल शोध संस्थान नयी दिल्ली, राष्ट्रोत्थान साहित्य बंगलौर एवं अनिल प्रकाशन बम्बई ने परिश्रम किया। दीनदयाल जी का लेखन यत्र-तत्र बिखरा पड़ा है। उसका संपूर्ण संकलन अभी भी नहीं हुआ है। उनकी आत्मविलोपी वृत्ति के कारण उनका कुछ मौलिक लेखन प्रकाशित नहीं हुआ। उसी प्रकार कुछ साहित्य कहीं प्रकाशित हुआ भी हो तो तब भी उसका लेखक कौन है, अनेकों को इस बात का पता नहीं। उदाहरण के लिए, श्री नाना पालकर द्वारा मराठी में लिखित प.पू.डा. हेडगेवार के चरित्र का हिन्दी अनुवाद पंडित जी ने किया है, इसकी जानकारी कितने लोगों को है? सन् १९५५-५६ में चालू राष्ट्रीय घटनाओं के बारे में अत्यंत मार्मिक भाष्य पांचजन्य में 'विचारवीथि' शीर्षक स्तंभ में 'पाराशर' के नाम से प्रकाशित होता था। ये पाराशर भी दीनदयाल जी ही थे।

लिखित साहित्य की भांति उनकी मौखिक वाङ्मयी तपस्या की भी वही बात है।

लगातार तीन दशकों तक पंडित जी निरंतर प्रवास करते रहे। यह काल उन्होंने मुख्यत: वाहनों में बिताया। सब प्रकार के वाहन– जिनमें बैलगाड़ी भी सम्मिलित है– पैसेंजर ट्रेन से लेकर तेज गति वाले विमान तक उन्होंने इस प्रवास के लिए उपयोग में लिये। उनके साथ कोई छवि-निर्माता होता तो वह अमेरिकी शैली में आकर्षक आंकड़े प्रकाशित करता। कुल कितने किलोमीटर की यात्रा हुई, संपूर्ण प्रवास में कितने छोटे बड़े व्यक्तियों के साथ प्रत्यक्ष परोक्ष संबंध आये, उनके द्वारा बोले गये सभी शब्द एक के बाद एक 'टेप' किये जाते तो वह टेप कितने दिन तक चलता। अमरीका में राष्ट्रपति पद के चुनाव के समय प्रचार का ठेका लेने वाली संस्थाएं इसी शैली में कितनी ही सांख्यिकीय जानकारी प्रकाशित करती रहती हैं। सौभाग्य से पंडित जी को कोई छवि-निर्माता नहीं मिला। मूल प्रतिमा ही उज्जवल होने के कारण उन्हें ऐसे निर्माता की आवश्यकता भी नहीं थी। 'स्वभावसुंदरं वस्तु न संस्कारमपेक्ष्यते' वाला सुभाषित उनके बारे में सार्थक था। फिर यह छवि-निर्माता का तंत्र पंडित जी के स्वभाव में ही नहीं बैठता था।

इतने प्रचण्ड भ्रमण में पंडित जी ने जो प्रबोधन किया होगा, क्या उसका सौंवा भाग भी आज उपलब्ध है? कितने बौद्धिक वर्ग, कितने सार्वजनिक भाषण, कितनी बैठकें, कितने व्यक्तिगत संभाषण उन्होंने किये होंगे। इसके अतिरिक्त कितने ही लोगों के साथ निजी वार्तालाप भी किया होगा। इसमें उन संवादों को तो गिना ही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नहीं, जो उन्होंने 'अपने आप' से किये होंगे। यह सारा साहित्य आज उपलब्ध होता तो नयी पीढ़ी एवं नये कार्यकर्ताओं को कितना सुदृढ़ आधार प्राप्त हुआ होता। शायद हमारी परंपरा की प्रकृति कुछ ऐसी ही है। यथासंभव हम श्रुति के आधार पर ही काम निभाते हैं और बढ़ते हुए कार्य के कारण वैसा करना असंभव हो जाये, तभी विवश होकर स्मृतियों का सहारा लेते हैं। जो भी हो, एक बात तो निश्चित ही है कि अब भी समय हाथ से नहीं निकल गया है। उनके संपर्क में आये बहुत से लोग आज भी विद्यमान हैं। उनके भाषणों और संभाषणों की टिप्पणियाँ भी यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हुई मिलेंगी। उनमें असंकलित भाग अधिक है और संकलित बहुत कम। सबका संकलन करने का उद्योग राष्ट्रहित के लिए पोषक होगा। उनके जीवन के बारे में उपलब्ध सामग्री एवं जानकारी आज भी बहुत ही अपर्याप्त है।

एक तो पंडित जी की प्रकृति आत्मविलोपी थी। वे उस परंपरा में पले थे जिसमें लोग अपने मृत्युपत्र में ऐसा अनुरोध लिखकर जाते हैं कि 'मेरी मृत्यु के बाद मेरा कोई स्मारक न बनाया जाये'। वेदों के सूक्तों एवं उपनिषदों के द्रष्टा और रचयिता कितने ही ऋषि हो गये हैं। उनके नाम तो हम तक आ पहुँचे हैं, किंतु उनमें से कितने लोगों के चरित्र हमें ज्ञात हैं? अतः ऐसी आशा करना वास्तविकता से दूर होगा कि इस परंपरा में पला मनुष्य लायड जार्ज़ या चर्चिल की भांति अपने संस्मरण लिख रखेगा या पंडित नेहरू, मुसोलिनी अथवा हिटलर की भांति अपनी आंशिक आत्मकथा प्रकाशित करेगा। इसके अतिरिक्त रा.स्व. संघ का संस्कार भी था। हमारे मित्र श्री दि.वि. गोखले ने एक बार कहा था, "राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने महान लोगों का निर्माण किया, किंतु उन सबको बिना चेहरे (मुखाकृति) का रखा।"

पंडित जी का जीवनक्रम भी इस दृष्टि से अनुकूल नहीं था। लैंड्सबर्ग कारागृह में प्राप्त अनिवार्य अवकाश का उपयोग कर हिटलर ने अपना 'माइनकांफ' ग्रंथ लिखा था। ऐसा लेखन करने के लिए लेनिन को समय तब मिला जब उसे स्विटजर लैंड में देश-निकाला दिया गया। माओत्से तुंग एक क्रांतिकारी सेनानी एवं शासक था। किंतु उसे भी येनान में वास करते हुए ही ऐसा समय मिला सका। किंतु पंडित जी को यह सुविधा उनके अधिकाधिक व्यस्त जीवनक्रम के कारण प्राप्त नहीं हुई।

एकाकी, अखण्ड 'चरैवेति' का व्रत पंडित जी ने लिया था। उनके कार्य के बहुआयामी स्वरूप एवं उनके निकटवर्ती लोगों की कुछ लिख रखने के बारे में अनास्था के परिणामस्वरूप पंडित जी के जीवन में इस दृष्टि से उपयोगी व्यक्ति का आना असंभव ही था। भगवान् रामकृष्ण परमहंस के जीवन में 'एम' (मास्टर महाशय महेंद्रनाथ गुप्त) ने एक विशेष भूमिका निभायी थी। महात्मा गांधी को महादेव भाई मिले थे। सरदार पटेल की पुत्री का भी योगदान इस विषय में और बड़ा था। मैडम संन्यात सेन ने अपने पति के बारे में इसी स्वरूप का काम किया था। डा. जानसन के चरित्र लेखक बॉसवेल तो प्रसिद्ध ही हैं। इस प्रकार के कोई ग्रह पंडित जी की जन्म-पत्री में नहीं थे।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बैंजामिन फ्रैंकलिन की भांति प्रतिदिन विस्तृत दैनंदिनी लिखने की आदत पंडित जी को होती तो उनकी वह दैनंदिनी ही प्रारंभिक आत्मचरित्र के रूप में प्रकाशित की जा सकती थी। किंतु वह भी होना नहीं था।

पंडित जी का व्यक्तित्व, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, बहुआयामी था। विश्व इतिहास में थोड़े से महान व्यक्ति ऐसे हो गये हैं जिन्होंने अपनी लेखनी के द्वारा इतिहास को मोड़ दिया। रूसो, वाल्टेयर, मार्क्स आदि के नाम इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं। कुछ महापुरुष ऐसे होते हैं जो उत्कृष्ट जन-नेता एवं उत्कृष्ट लेखक, दोनों भूमिकाओं को भलीभांति निभाते हैं। जूलियस सीजर, नेपोलियन, लेनिन, विन्स्टन चर्चिल एवं चार्ल्स दि गाल इस श्रेणी में आते हैं। कुछ श्रेष्ठ पुरुष ऐसे हो गये हैं जिन्होंने इतिहास पर अपनी छाप गहरी अंकित तो की है, किंतु कोई मौलिक लेखन नहीं किया। फिर भी उन्होंने अपने संगठन-कौशल, विभिन्न प्रवृत्ति के लोगों को अपने साथ लेकर चलने की क्षमता, अपने विचारों या लेखन के आधार पर ही नहीं अपितु अपने व्यक्तिगत संपर्क से दूसरों को कार्य एवं त्याग की प्रेरणा दी। ऐसी विशेषता रखने वाले लोगों में चौदहवें लुई, मार्शल टीटो, लिंडन जान्सन, हो ची मिन्ह आदि का समावेश होता है। पंडित जी का भाग्य कुछ ऐसा था कि उन्हें इन सभी भूमिकाओं के अतिरिक्त कई और भूमिकाएं भी एक साथ निभानी पड़ी थीं। ऐसे व्यक्तित्व का यथायोग्य मूल्यांकन करना आकाश को आलिंगन देने के समान है।

पंडित जी के अनुयायियों की संख्या बहुत बड़ी है। किंतु उनके प्रति मन में भक्ति रखना एक बात है, और उनकी श्रेष्ठता का उचित मूल्यांकन करने की क्षमता रखना दूसरी। कई बार 'कमलिनी और मेढक एक साथ' वाली बात ही रहती थी, जो स्वाभाविक भी है। नीत्से ने कहा है कि पर्वतारोहण करते समय हम जितनी अधिकाधिक ऊँचाई पर जाते हैं, उतनी मात्रा में ठंड बढ़ती और वायु विरल होती जाती है। इतनी ऊँचाई तक जाते-जाते जिनका श्वास नहीं उखड़ेगा, ऐसे लोग समाज में कितने होते हैं? इसीलिए कहा गया है— 'स्तुतिगान करने तुम्हारा तुमसे कवि कब पैदा होंगे?'

इन्हीं सब कारणों से ऐसा उपक्रम प्रारम्भ करने में विलंब होना स्वभाविक ही है। कालांतर से यह काम कुछ पिछड़ भी गया। घटनाचक्र कितना ही गतिमान क्यों न हो, उनके अनुयायियों के मन से इस काम के बारे में आतुरता नष्ट होना असंभव ही था, मनुष्य का यह सामान्य स्वभाव जो है।

अपने छात्र-जीवन में एक चर्चा सुनने या समाचार-पत्रों में पढ़ने का प्रसंग मेरे साथ बार-बार आता था। चर्चा का विषय होता— 'लोकमान्य तिलक आज जीवित होते तो?' हम बालकों को तत्कालीन राजनीति के प्रवाह और उपप्रवाहों की जानकारी न होने के कारण इस बात पर आश्चर्य होता था कि क्यों यह प्रश्न सार्वजनिक रूप से बार-बार उठाया जाता है। इतनी समझ हम लोगों में उस समय नहीं थी कि नयी परिस्थिति या प्रश्न उपस्थित होते ही उसकी प्रतिक्रियाओं की पृष्ठभूमि में ऐसी चर्चा हर बार सिर उठाती है। किंतु अब यह बात बराबर समझ में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आती है कि प्रत्येक महापुरुष के निर्वाण के बाद देश के सम्मुख कोई समस्या खड़ी हो जाये तो ऐसा प्रश्न जनता के मन में स्वभाविक रूप में उपस्थित होता ही है। पंडित जी की मृत्यु को १८ वर्ष से अधिक समय बीत चुका है। इस काल में देश के संम्मुख निर्णय करने के लिए कितने ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित हुए। दल तथा राष्ट्रभक्तों के सम्मुख भी बहुत सी उलझनें सुलझाने के लिए आयीं। आपात स्थिति जैसा अभूतपूर्व संकट भी आकर चला गया। ऐसे सभी अवसरों पर पंडित जी के अनुयायियों के मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक था कि 'पंडित जी आज जीवित होते तो?'

अत: इस दृष्टि से पंडित जी के व्यक्तित्व एवं विचारों का समग्र दर्शन प्रकाशित होना अत्यंत आवश्यक है, यह विचार बल पकड़ता गया।

सच है कि यह प्रश्न मन में आना जितना स्वाभाविक है, उतना ही उसका उत्तर देने का प्रयास करना कठिन और कभी-कभी खतरनाक भी था। कारण, प्रश्नकर्ता कितना भी प्रामाणिक क्यों न हो, ऐसे प्रश्नों का पूर्ण वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण से एवं अपनी मानसिकता से अलिप्त रहकर विचार करना उसके लिए असंभव है। अनजाने में ही अपनी स्वाभाविक प्रकृति एवं प्रतिक्रिया का प्रभाव इस प्रश्न का उत्तर खोजते समय प्रश्नकर्ता के मन पर रहा करता है। इसीलिए ऐसी खोज खतरनाक भी हो सकती है।

किंतु इसके कारण यह प्रश्न कि 'पंडित जी आज जीवित होते तो' उनके अनुयायियों के मन में उठना बंद नहीं होगा। यह प्रश्न अधिक उठेगा और न्यूनाधिक क्षमता से इसका उत्तर खोजने का प्रयास भी चलता ही रहेगा। इसमें संदेह नहीं कि अनुयायियों की जिज्ञासा का पूर्ण समाधान करने की दृष्टि से आज उपलब्ध सामग्री अपर्याप्त है। कामचलाऊ अनुमान करने के लिए उपयुक्त कुछ सामग्री पंडित जी अवश्य ही पीछे छोड़ गये हैं। उनके लिखित एवं मौखिक साहित्य, उनका जीवनपट और विशेषकर 'सिद्धांत एवं नीति' अभिलेख इस काम में पर्याप्त उपयोगी सिद्ध होगा। इस अभिलेख (दस्तावेज) के प्रकाश में अनेक प्रचलित एवं भावी प्रश्नों के उत्तर स्थूल रूप में खोजे जा सकते हैं। यह अभिलेख राष्ट्रजीवन के सभी प्रश्नों को स्पष्ट करने वाला एवं सर्वांगीण है। साथ ही उसकी उपयुक्तता की स्वभावसिद्ध एवं व्यावहारिक मर्यादाएं भी हैं। ग्रंथप्रामाण्य-बुद्धि से उसका उपयोग करना उचित नहीं होगा। उसमें दी गयी सामग्री को संदर्भ-बिंदु मानना अधिक उपयुक्त होगा। सभी संबंधित समस्याओं एवं परिस्थिति पर यह अभिलेख प्रकाश तो डालता है, किंतु प्रत्येक प्रश्न या सिद्धांत का पूर्ण स्पष्टीकरण पहले ही हो चुका हो, यह संभव नहीं। सामयिक परिस्थिति के संदर्भ में जिन विषयों को गंभीर महत्त्व प्राप्त हो जाता है उनके बारे में भाषणों एवं वक्तव्यों में विचारों को अधिक विस्तारपूर्वक एवं आग्रहपूर्वक रखना पड़ता है। जो प्रश्न गंभीर एवं विस्फोटक रूप धारण नहीं करते, उनके बारे में मूल सिद्धांत यद्यपि इस अभिलेख में दिया गया है, लीक से हटकर उनका पूर्ण विशदीकरण करने का प्रयास (केवल अभ्यास-वर्गों का अपवाद छोड़कर) अप्रासंगिक एवं हास्यास्पद सिद्ध होने की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सम्भावना अधिक रहती है। इस सामान्य व्यावहारिक नियम के कारण यह भी संभव है कि आज सन् १९८६ में जो समस्या हमें विस्फोटक और इसीलिए प्राथमिक महत्त्व की लगती है, उसने पंडित जी के जीवनकाल में इतना गंभीर रूप धारण नहीं किया होगा और परिणामतः उस संबंध में ग्रथित सिद्धांतों का विशदीकरण करने का प्रसंग पंडित जी के समक्ष नहीं आया होगा।

फरवरी १९६८ तक जनसंघ के सम्मुख उपस्थित महत्त्वपूर्ण समस्याओं का उल्लेख इससे पूर्व अन्य संदर्भ में आ चुका है। यह स्पष्ट है कि इनमें से कुछ समस्याएं मूलभूत सिद्धांतों से, तो अन्य उन सिद्धांतों के प्रकाश में रणनीति निश्चित करने से संबंधित थीं। उपर्युक्त रणनीति के प्रकाश में समय-समय पर तात्कालिक कार्यक्रमों के आदेश दिये गये थे। कुछ समस्याएं अकस्मात उत्पन्न हुई थीं, तो कुछ सामयिक स्वरूप की थीं और विवेकबुद्धि के सहारे उनका विचार करना पड़ता था। कुछ समस्याएं उलझी हुई या बार-बार उत्पन्न होने वाली होती हैं। विविध प्राकृतिक प्रकोप और उनसे पीड़ित लोगों के पुनर्वास का प्रश्न साम्प्रदायिक एवं अन्य दंगे और उनके दुष्परिणाम, पुलिस के अत्याचारों और गोलाबारी के शिकार लोग, समाजविरोधी तत्त्वों एवं नक्सलवादियों के आतंक से पीड़ित लोग, झुग्गी-झोपड़ी में रहने वालों की मांगें, हरिजनों पर होने वाले अत्याचार, मंत्रियों के भ्रष्टाचार के प्रकरण, मूल्यों में वृद्धि, रेलवे किराये-भाड़े में वृद्धि, करवृद्धि, प्रतिवर्ष बजट में ग्राहक-विरोधी एवं गरीब-विरोधी प्रावधान, छोटे किसानों को ब्याजमुक्त ऋण देने की मांग, भूमिसुधार लागू करना, वनवासी लोगों द्वारा चलाये गये आंदोलन आदि विषय इस वर्ग में आते हैं। दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद पर आधारित सरकारी नीति का विरोध, अन्य परतंत्र राष्ट्रों द्वारा चलाये गये साम्राज्यवाद-विरोधी स्वतंत्रता-संग्रामों का समर्थन, संयुक्त राष्ट्र संघ की पुनर्रचना की मांग, आदि विषय भी इस वर्ग में आते हैं। निर्वाचन-प्रणाली में सुधार करने के बारे में भी यही कहा जा सकता है। विदेशी आक्रमण के समय 'वयं पंचाधिकं शतम्' की वृत्ति धारण करने एवं तदनुसार अपने राष्ट्र के युद्ध-प्रयासों को जनशक्ति का समर्थन प्राप्त करने की नीति सदा के लिए निरपवाद ही कही जायेगी। इन सब विषयों के बारे में पंडित जी के जीवनकाल में निर्धारित की हुई दिशा आगे भी मार्गदर्शक मानी जा सकने योग्य है। इसी प्रकार मताधिकार के लिए आयु कम करने की मांग, राज्यों में उत्पन्न सीमा-विवादों को सुलझाने के लिए सुझायी गयी पद्धति, सरकारी कर्मचारियों, अध्यापकों एवं श्रमिक-संघों के अधिकारों के प्रश्न, सिंध के विस्थापितों का पूर्ण पुनर्वास और उन्हें नागरिकता प्रदान करने की मांग, नगरीय एवं ग्रामीण सम्पत्ति और व्यय योग्य आय की अधिकतम सीमा निर्धारित करने की मांग तथा अखण्ड भारत के ध्येय का पुनः स्मरण, ये सारे विषय पूर्वनिर्धारित नीति के चौखट में बैठने वाले ही हैं। अर्थात् समय-समय पर बोलते हुए परिस्थिति के अनुसार इन सब प्रश्नों के बारे में प्रस्तावों, मांगों, तात्कालिक प्रकट नीतियों तथा उनसे उत्पन्न होने वाले आंदोलनों के स्वरूप में उचित परिवर्तन करना पड़ेगा, किंतु पूर्वनिर्धारित दिशा बनी रहे, ऐसा ही इन सब प्रश्नों का स्वरूप है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यह सच है कि इतिहास अपने आपको फिर से ठीक पहले जैसा नहीं दोहराता। दो ऐतिहासिक परिस्थितियों में समानता दिखाई दे, तब भी वे पूर्णतः एक जैसी नहीं होतीं। एक ही घटना अपने आपको वैसा का वैसा नहीं दोहराती, किंतु कई बार मौलिक प्रश्न एवं सिद्धांत मूल स्वरूप में ही बने रहते हैं।

पंडित जी की मृत्यु के बाद कुछ प्रसंग ऐसे आये जिनके हूबहू समानांतर प्रसंग उनके जीवन में नहीं पाये जायेंगे। आपातस्थिति ऐसा ही एक प्रसंग था और उसके बाद का घटनाक्रम सर्वथा भिन्न स्वरूप का था। हूबहू समानांतर घटना यद्यपि नहीं पायी जाती, तो भी ऐसे प्रसंग में नीति का मार्गदर्शक सूत्र क्या हो, इसका अनुमान लगाने में सहायक होने वाली कुछ घटनाएं उनके जीवनकाल में अवश्य पायी जाती हैं। उदाहरण के लिए, बीच के कुछ काल में लम्बे समय तक, हिन्दू महासभा, जनसंघ और रामराज्य परिषद् के एकीकरण की चर्चा होती रही। उस संपूर्ण चर्चा को यहाँ उद्धृत करने की कोई आवश्यकता नहीं। किंतु इसके लिए चल रही बातचीत में किस बिन्दु पर कितना अड़ा जाये, किस प्रश्न को छोड़ दिया जाये, और अपने दल का अन्य दलों में विलीनीकरण करने अथवा न करने के बारे में कौन सी नीति उचित होगी इसका सीधा न सही, सामान्य दिशाबोध कराने वाला मार्गदर्शन पंडित जी के उस समय के व्यवहार से प्राप्त हो सकता है। उसी प्रकार, विविध चुनावों के समय तात्कालिक रूप में अन्य दलों से निकटता बनाने के कुछ प्रयास हुए। कुछ वामपंथी लोगों को भी निकट लाने का प्रयास हुआ। स्पष्ट है कि ये सब ठीक वैसा ही आगे के काल में उत्पन्न परिस्थिति में उपयुक्त होने वाला नहीं था। तथापि उससे ऐसे प्रयत्नों की सूक्ष्म बातों एवं मर्यादाओं के बारे में बहुत कुछ बोध हो सकता है। सन १९६७ के चुनाव के बाद कुछ प्रांतों में संविद सरकारें आयीं। जनसंघ भी उनमें सहयोगी हुआ। सहभागी होने वालों में वामपंथी एवं दक्षिणपंथी दल भी थे। दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि उस समय मिली-जुली सरकारों के बारे में संबद्ध कार्यक्रम को केंद्र-बिन्दू मानकर पंडित जी द्वारा किया मार्गदर्शन आज भी अनुपयुक्त या कालबाह्य नहीं हुआ है।

स्पष्ट है कि ऐसी समस्याएं, जिनके बारे में उपरिनिर्दिष्ट अभिप्राय दृढ़तापूर्वक दिया जा सकता है, इनी-गिनी ही होंगी। जैसाकि इससे पूर्व कहा है, कालांतर से उत्पन्न होने वाली दो परिस्थितियां अथवा समस्याएं कभी एक दूसरे के समान प्रतीत हुईं भी, तो उनके ऐतिहासिक संदर्भ मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मताएं तथा घटनाक्रम की उलझनें इतनी भिन्न स्वरूप की होती हैं कि पहली समस्या के अनुभव पर दूसरी के बारे में सामान्यभाव से कोई निष्कर्ष निकालना गलत ही सिद्ध होगा। अतः सन १९६८ के बाद की प्रत्येक राजनीतिक परिस्थिति के बारे में पंडित जी की प्रतिक्रियाएं क्या थीं, इसकी खोज करना अवास्तविक होगा। ऊपर दिये सर्वसाधारण अभिप्राय में इतना अवश्य जोड़ा जा सकता है कि किसी भी परिस्थिति में पंडित जी ने सिद्धांत के बारे में कोई समझौता स्वीकार नहीं किया होता[१५]। संघ में ग्रहण की गयी व्यावहारिक रीति-नीति एवं प्रणालियों का वे त्याग न करते और न ही मनोविज्ञान के गहन अध्ययन पर आधारित संगठनशास्त्र को कभी आंखों से ओझल होने देते। इसलिए दीनदयाल शोध संस्थान में अपने भाषण में मा. भाऊराव देवरस दृढ़तापूर्वक कह सके कि दीनदयाल जी आज जीवित होते तो प्राप्त

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परिस्थिति में उनका आचरण कैसा होता। कुछ आधारभूत बातों के अतिरिक्त दैनिक राजनीति में उत्पन्न होने वाली प्रत्येक समस्या के बारे में पंडित जी की वृत्ति क्या रहती, इसका विचार विशेष फलदायी होने वाला नहीं है।

सामान्यतः यही बात ग्राह्य हो, तब भी पंडित जी की मृत्यु के सवा पाँच वर्ष के बाद एक छोटा सा कालखण्ड ऐसा आया जिसे इस नियम के लिए अपवाद ही मानना पड़ेगा। इस अल्पावधि में घटनाएं भी बहुत वेग से होती गयीं। ये थीं— चेकोस्लेवाकिया पर रूस का आक्रमण, परमाणु-शस्त्ररहित राष्ट्रों को वे शस्त्र कभी भी उपलब्ध न होने देना सुनिश्चित करने वाली सन्धि 'नॉन प्रॉलिफरेशन ट्रीटी', केंद्र सरकार के कर्मचारियों की हड़ताल, कलकत्ता में हुआ रवीन्द्र सरोवर काण्ड, केरल में मुस्लिमबहुल मल्लपुरम् जिले का निर्माण, 'राबात' में हुआ अपमान, कांग्रेस-कम्युनिस्ट-मुस्लिम लीग का गठबंधन, भारत-रूस सन्धि, विदेशियों की हिंद महासागर में बढ़ रही गतिविधियाँ, कांग्रेस में पड़ी फूट, बैंकों का सरकारीकरण, तैलंगण-आंदोलन, फरक्का विवाद, शिमला समझौता, और बंगलादेश का युद्ध एवं स्वतंत्र बंगलादेश को मान्यता देने का प्रश्न। यह सुनिश्चित भाव से कहा जा सकता है कि इन सभी घटनाओं पर पंडित जी की प्रतिक्रिया क्या होती। कारण, उनके साथ संपूर्ण वैचारिक-मानसिक तादात्म्य रखने वाला एवं देश के हित-अहित का एक निकष ५ जून, १९७३ तक हमारे बीच था। अतः निस्संकोच कहा जा सकता है कि उपरिनिर्दिष्ट प्रत्येक प्रकरण में श्री गुरुजी ने जो विचार प्रकट किये, वे ही दीनदयालजी जी ने भी प्रकट किये होते।

यह अपवादस्वरूप छोटा सा कालखण्ड छोड़ दिया जाय तो सामान्यतः कहा जा सकता है कि पंडित जी के जीवन एवं व्यक्तित्व का संपूर्ण एवं सुस्पष्ट दर्शन जब तक उपलब्ध नहीं होता, उनके विचारों के बारे में प्रत्येक प्रसंग पर अचूक अनुमान करना संभव नहीं होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि एक तो उनका संपूर्ण साहित्य संकलित कर उसे प्रकाशित किया जाय और दूसरे इस ग्रंथ के आगामी ६ खण्डों के निमित्त इसके प्रथितयश लेखकों ने अत्यंत परिश्रमपूर्वक जिस प्रकार पंडित जी के विचारों का परिचय कराया है, उसी प्रकार और वैसे ही सिद्धहस्त लेखकों द्वारा उनके बहुआयामी व्यक्तित्व का दर्शन, करवाने का उपक्रम तुरंत हाथ में लिया जाय।

'पंडित दीनदयाल उपाध्याय: समग्र (व्यक्ति व विचार) दर्शन' का यह उपक्रम सफलतापूर्वक सम्पन्न होता है तो वर्तमान एवं भावी राष्ट्रीय नेतृत्व के मार्गदर्शन के लिए वह उपयोगी सिद्ध होगा, इसमें संदेह नहीं। तो आइए, हम आशा करें कि श्री राजवाड़े द्वारा लिखित 'मराठों के इतिहास के साधन' शीर्षक ग्रंथ की भांति यह ग्रंथ भी साधनभूत होगा और उसके प्रकाशन के कारण ऐसे उपक्रम की ओर बढ़ने की प्रेरणा इस विषय के अधिकारी लेखकों को मिलेगी।

यह ग्रंथ ऐसी चिर-अपेक्षित एवं सर्वस्पर्शी साहित्यिक रचना का अग्रदूत ही है।

४.

इस ग्रंथ—'पं. दीनदयाल उपाध्याय: विचार-दर्शन'—में दीनदयाल जी के विचारों के विविध पक्षों पर अलग-अलग लेखकों ने प्रकाश डाला है। इन सभी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लेखकों ने यह काम केवल प्रेमवश 'स्वान्तः सुखाय' भावना से किया है। प्रत्येक के मन में जान बैनियन की यही भावना थी कि "आई डिड इट फॉर माई ओन सेल्फ टु ग्रेटिफाई।" प्रत्येक के मन में विचार रहा है– 'आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।' किसी के भी मन में 'तान् प्रति नैष यत्नः' का भाव नहीं। आज अनेक कारणों से देश में एक वैचारिक रिक्तता उत्पन्न हो गयी है। उसे पाटने के लिए इन लोगों का यह प्रयास आंशिक रूप में भी सहायक होता है तो सभी लेखकों को लगेगा कि उनका परिश्रम सार्थक हो गया है।

इन सब अधिकारी लेखिकों ने अपने-अपने विषय के साथ पूर्ण न्याय किया है। उन्हीं पहलुओं को यहाँ स्पर्श करना अनावश्यक है, अतः उन विषयों की पुनरुक्ति न करते हुए उनकी पृष्ठभूमि एवं पंडितजी की विचार-शैली की विशेषताएं ही कुछ विस्तार के साथ उपस्थित की जायें तो पर्याप्त होगा।

५.

अमरीका में एक चुटकुला प्रसिद्ध है। एक राजनीतिक नेता कहता है, "मैंने अपना मन पहले ही बना लिया है। अब वस्तुस्थिति को अधिक स्पष्ट करते हुए मेरे मन में चंचलता उत्पन्न मत करो।" इसका कारण स्पष्ट है कि वस्तुस्थिति का और आगे वर्णन करने का अर्थ है पुनर्विचार को निमंत्रण देना; और उसके लिए समय किसके पास है? वह नेता कहता है, "सोचने के लिए मेरे पास समय नहीं, क्योंकि मुझे लगातार बोलना पड़ता है।"

इसमें विनोद के पुट को छोड़ भी दें, तब भी वह सच है कि निरंतर शीघ्रता में रहने वाले नेताओं के पास सोचने का समय नहीं होता। फलस्वरूप किसी भी प्रश्न के विविध पक्षों को शांति के साथ समझ लेने का अवकाश उनके पास नहीं होता। यह अनुभव अमरीकी लोगों का है। थोड़े अंतर से अन्य लोकतंत्रीय देशों में भी इसी प्रवृत्ति का न्यूनाधिक मात्रा में दर्शन अवश्य होता होगा।

यह प्रवृत्ति यद्यपि सुविधाजनक है, तो भी उचित निर्णय तक पहुँचने के लिए उपयोगी नहीं। कई बार ऐसा दिखाई देता है कि कुछ विचार सदैव एक ही वातावरण में और एक ही संगति में रहते हैं। फलस्वरूप उनके विचारों में दृढ़ता भले ही आती हो, एकांगिता ही अधिक होती है। साधक-बाधक विचार का उनमें अभाव ही पाया जाता है। जिनका संपर्क-क्षेत्र पर्याप्त फैला हुआ और विविधताओं से भरपूर होता है, उनके विचार में एकांगिता कम होती है, किंतु साथ ही दृढ़ता का अभाव भी होता है। 'कहो तो है, कहो तो नहीं' वाली प्रवृत्ति भले ही उदारता की क्यों न हो, उसमें बेपैंदापन भी होता है। यह सच है कि 'बुद्धेः फलं अनाग्रहः', किंतु इसका अर्थ आग्रह, निर्णय अथवा निश्चय का अभाव नहीं होता। नयी-नयी जानकारी प्राप्त होती है और उसके आधार पर संपूर्ण प्रश्न का पुनर्विचार करने की मानसिक तैयारी अधिक रखनी पड़ती है। किंतु आगे चलकर शायद पुनर्विचार की नौबत आ सकती है, इसलिए आज की उपलब्ध जानकारी के आधार पर निश्चित निर्णय को टालना या असहायता से टालमटोल की नीति स्वीकारना भी बुद्धिमानी का लक्षण नहीं है। दुराग्रह न हो, पुनर्विचार के लिए तैयारी हो, किंतु प्रत्येक परिस्थिति में अनिर्णय अथवा अनिश्चय भी न हो। विचारों में दृढ़ता का होना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आवश्यक है। विशालमनस्कता के नाम पर सभी विचार और मत ढुलमुल रहें तो कोई भी महत्त्वपूर्ण कार्य संपन्न करना संभव नहीं होगा।

ध्येयवादी एवं विचारी पुरुष अपनी बुद्धि के किवाड़ कभी बंद नहीं करता। वह वस्तुस्थिति के सभी पक्षों को ध्यान में रखता है। इसीलिए उसमें एकांगिता नहीं होती। किंतु ऐसे व्यक्ति के विचार में ढुलमुलपन भी नहीं रहता। सभी अनिश्चित, भगवान भरोसे और ढुलमुल अवस्था उसकी नहीं होती। ध्येयवादी होने के साथ निश्चय ही वह ध्येयकेंन्द्रित अर्थात एककेंन्द्रित होता है, किंतु समझदारी के कारण एकांगी नहीं होता। एककेंन्द्रित किंतु सर्वांगीण विचार की क्षमता वह रख सकता है। पंडित दीनदयाल जी के बारे में भी यही नियम लागू होता है।

दृढ़ता उनके विचारों की एक विशेषता थी।("Nothing is so discouraging to subordinates as a chief who hesitates"— Napoleon) एक ओर उनकी प्रवृत्ति 'बालादपि सुभाषितं ग्राह्यम्' की थी तो दूसरी ओर श्रेष्ठ व्यक्तियों के विचारों का भी वे 'नीरक्षीरविवेक' से मूल्यांकन करते थे। अंग्रेजी शब्द Pragmatism का मूल अर्थ क्या है, मुझे पता नहीं, किंतु हमारे देश में इन दिनों उसका अर्थ– 'गंगा गये गंगादास, जमुना गये जमुनादास', ऐसा लिया जाता है। इस अर्थ से पंडित जी Pragmatic नहीं थे। किसी भी व्यक्ति के बड़प्पन की जगमगाहट से वे प्रभावित नहीं होते थे। उसके कारण वे चौंधिया नहीं जाते थे। मूलग्राही पद्धति से सभी बातों का मर्म समझ लेने का प्रयास वे करते थे। उनके व्यक्तिगत संपर्क का क्षेत्र बहुत विस्तृत था। नाना प्रकार के व्यक्तियों, संस्थाओं एवं दलों के साथ उनका भिन्न-भिन्न मात्रा में संपर्क रहता था। संत-शिरोमणि प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, मुनि सुशीलकुमार, भाई जी हनुमानप्रसाद पोद्दार, महामना मदनमोहन मालवीय से लेकर कुटिलतम राजनीतिक लोगों तक सबके साथ उनके संबंध थे। डा. मुखर्जी के नेतृत्व में 'नेशनल डेमोक्रेटिक पार्टी' में जनसंघ के अतिरिक्त श्री प्रफुल्लचंद भंजदेव एवं श्री राजेन्द्रनारायण सिंह देव की गणतंत्र परिषद्; बैरिस्टर निर्मलचंद्र चटर्जी, वि.घ. देशपांडे, डा. ना.भा. खरे और गोकुलचंद नारंग की हिंदू महासभा; वी. मुन्नुस्वामी, ए. जयरामन, वी. नूवगंस्वामी पदयाची, एन.डी. गोविंदस्वामी आदि की तमिलनाडु टायलर्स पार्टी; ए. कृष्णस्वामी मुदलियार, एन.आर.एम. स्वामी एवं दोरायस्वामी तथा रामचंद्रपिल्लै की कॉमनविल पार्टी; एस.के. कंडस्वामी बेबी का द्रविड़ कड़घम; सरदार हुकुमसिंह, सरदार अजीतसिंह सरहदी का अकाली दल (मास्टर तारासिंह); श्री शिवमूर्ति स्वामी का लोकसेवक संघ; एनी मैरकावेक, एडवर्ड पाल, मथुराम जैसे कुछ निर्दलीय सदस्यों आदि सबका समावेश था। इन सबके साथ पंडित जी के संबंध थे। श्री जमनादास मेहता के लोकतंत्रीय स्वराज्य दल, जम्मू की प्रजा परिषद्, पंडित नीलकण्ठदास के स्वाधीन जनसंघ, आर. शंकर के हिन्दू महामण्डल, स्वामी करपात्री जी एवं श्री नंदलाल शास्त्री की रामराज्य परिषद्, चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य, एन.जी. रंगा तथा मीनू मसानी की स्वतंत्र पार्टी, पंडित द्वारका प्रसाद मिश्र तथा पु.य. देशपांडे की भारतीय लोक कांग्रेस, बिहार के शोषित दल, भारतीय क्रांति दल, संयुक्त महाराष्ट्र समिति, महागुजरात जनता परिषद्, गोवा मुक्ति-संग्राम समिति, राजस्थान की जनता पार्टी, छोटा नागपुर जनता पार्टी,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

श्री महामाया प्रसाद सिन्हा के जनक्रांति दल, सबके साथ पंडित जी ने अपना संपर्क बनाये रखा था। सर छोटूराम की यूनियनिस्ट पार्टी के कुछ अनुयायियों के साथ भी उनके संबंध थे। वामपंथी लोगों के साथ भी उनके व्यक्तिगत संबंध थे। डा. राममनोहर लोहिया, श्री एच.वी. कामथ, श्री अशोक मेहता आदि की गणना इस श्रेणी में की जा सकती है। वही बात रिपब्लिकन पार्टी के दादासाहब गायकवाड़ के बारे में भी है। कांग्रेस में भी डा. संपूर्णानंद, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, सेठ गोविंददास, श्री के.एम्. मुंशी, आचार्य कृपलानी, लाल बहादुर शास्त्री, श्री घनश्यामदास गुप्त, ठाकुर रघुनाथ सिंह, राष्ट्रकवि सोहनलाल द्विवेदी आदि नेताओं तथा राष्ट्र सेविका समिति, आर्य समाज तथा सर्वदलीय गोरक्षा महा अभियान समिति के कार्यकर्ताओं के साथ भी उनका निकट संबंध-संपर्क था। श्री धंनजयराव गाडगिल एवं अन्य अर्थशास्त्रियों के साथ वे बराबर विचार-विनिमय किया करते थे। 'द टू प्लान्स' नामक उनकी पुस्तक को ऐसे विचार-विमर्शा की सुदृढ़ पृष्ठभूमि प्राप्त थी। पूर्ण विचार के बाद सुनिश्चित अपनी जीवन-श्रद्धा को सुस्थापित रखते हुए इन सब छोटे-बड़े विचारों का मार्मिक रसग्रहण वे किया करते थे। उनके मन-बुद्धि के कपाट खुले रहते थे। किंतु केवल बाहय आडम्बर के चक्कर में किसी के भी विचार का विवेकशून्य एवं तारतम्यरहित स्वीकार उन्हें अनुचित प्रतीत होता था।

६.

जनसंघ की मुख्य स्पर्धा सत्ता के क्षेत्र में कांग्रेस एवं विचारधारा के क्षेत्र में कम्युनिज्म के साथ थी। हिन्दू राष्ट्र के समर्थकों के मन में संदेह, संभ्रम एवं हीनता की भावना निर्मित करने की दृष्टि से कम्युनिस्ट एक सस्ती जुगत लड़ाते हैं। वे ऐसे हाव-भाव से मानो जागतिक कम्युनिस्ट समाज रचना का 'ब्लू प्रिंट' जेब में लेकर ही घर से चले हों, पूछते हैं कि "तुम्हारे हिन्दू राष्ट्र का 'ब्लू प्रिंट' कहाँ है?" यह सच है कि इस प्रकार का उथलापन ऊपर की श्रेणियों वाले एवं गंभीर प्रकृति के नेताओं में नहीं पाया जाता, किंतु ऐसे लोगों की संख्या कम होती जा रही है और सस्ती चालाकी का उपयोग करने वाले अति उत्साही कार्यकर्ताओं की संख्या लगातार बढ़ती जा रही है।

दार्शनिक दृष्टि से हम कम्युनिज्म का विरोध करते हैं। इसी दृष्टि से कम्युनिज्म एवं सोशलिज्म के बारे में कुछ वर्णन आगे किया गया है। किंतु इन प्रश्नों के संदर्भ में इतना कहना तो पर्याप्त है कि कम्युनिज्म के प्रणेता एवं नेता भले ही उत्तम विचारक क्यों न हों, उनके अधिकांश अनुयायी प्रकृति से उथले होते हैं। कम्युनिज्म के आंदोलन को मानो यह एक अभिशाप ही है। उदाहरणार्थ, इस आंदोलन के प्रारंभिक काल में एंजेल्स ने लिखा था—

"इतिहास की भौतिकतावादी उपपत्ति को मानने वालों में बहुतेरे ऐसे हैं जिनके लिए यह इतिहास का अध्ययन न करने का एक सुविधाजनक बहाना मात्र होता है।"

"सामान्यतः जर्मनी के अनेक तरुण लेखकों को 'भौतिकवादी' एक ऐसा शब्द मिल गया है कि विशेष अध्ययन किये बिना हर बात पर उसे किसी 'लेबिल'

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की भांति चिपकाया जा सकता है। वे लोग ऐसा 'लेबिल' लगा देते हैं और यह मान लेते हैं कि प्रश्न समाप्त हो गया।"

"और अपने दल के बारे में कहना हो तो जर्मन कम्युनिस्ट दल में एक बड़ा गुट मुझसे रुष्ट है, क्योंकि मैं उनके स्वप्नरंजन एवं शब्दाडम्बरपूर्ण भाषणबाजी का विरोध करता हूँ।"

"आप में से जिन लोगों ने प्रत्यक्ष में कुछ काम किया है, उनके ध्यान में आया ही होगा कि दल से चिपके युवा साहित्यिकों में केवल मुट्ठीभर लोग ही अर्थ-विज्ञान, अर्थविज्ञान का इतिहास और व्यापार, उद्योग, कृषि, समाज-रचना आदि के इतिहास का अध्ययन करने का कष्ट उठाते हैं। कई बार ऐसा दिखाई देता है कि शायद ये भले मानस सोचते हैं कि श्रमिकों के सामने कुछ भी भाषण झाड़ देने से काम चल जाता है। काश, इन लोगों को यह ज्ञान होता कि स्वयं मार्क्स को कितनी उत्कटता से अनुभव हो रहा था कि हमारी उत्कृष्ट बातें भी श्रमिकों के लिए पर्याप्त संतोषजनक नहीं हैं और सर्वोत्कृष्ट से कम कुछ भी श्रमिकों को देना एक अपराध है।"

विचारों के उथलेपन के बारे में आज के भारतीय पिछली सदी के यूरोपीय कम्युनिस्टों को भी मात दे रहे हैं। अखिल भारतीय स्तर के एक कम्युनिस्ट नेता द्वारा दिये गये एक वक्तव्य पर सर्वोच्च न्यायालय के विद्यमान न्यायाधीश ने अपना मत प्रकट करते हुए कहा था—

"इस (नेता) ने यदि कम्युनिस्ट साहित्य पढ़ा हो तो हमें संदेह है कि उसका आशय ठीक से इसके ध्यान में नहीं आया है... एक तो उसे मार्क्स, एंजेल्स और लेनिन ने क्या कहा था, ज्ञात नहीं है, अथवा अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिए उनके वक्तव्यों को इसने जानबूझकर तोड़ा-मरोड़ा है। हम यह समझ नहीं पा रहे हैं कि इनमें से कौन सी बात को मानना अधिक उदारता का काम होगा... पुनरावेदन (अपील) करने वाले ने मार्क्स, एंजेल्स और लेनिन की सच्ची सीख के बारे में अपने आपको दिग्भ्रान्त कर लिया है, इसमें संदेह नहीं।"

जो भी हो, इतना तो सच है कि कम्युनिस्टों और उनकी बातों में आकर कुछ स्वयंसेवकों ने भी पंडित जी से अनेक बार प्रश्न किया था कि 'हमारे हिन्दू राष्ट्र का 'ब्लू प्रिंट' क्या है?'

भारत के वामपंथियों की गतिविधियों के बारे में यद्यपि हम आगे चर्चा करने वाले हैं, इस प्रश्न के बारे में ही कुछ स्पष्टीकरण करना अधिक उपयोगी होगा।

इस सिलसिले में अपने छुटपन की एक घटना का मुझे स्मरण हो रहा है। स्थानबद्धता से मुक्त होने के बाद अपने पहले ही प्रवास में स्वातंत्र्यवीर सावरकर हमारे गाँव आर्वी आये थे। संघचालक डा. आपटे के घर उनका निवास था। दोपहर साढ़े बारह बजे के लगभग स्थानीय हाई स्कूल के २०-२२ छात्र हाथ में काले झण्डे लिये वहाँ आयें और 'सावरकर गो बैक' के नारे लगाने लगे। ऐसे अवसर पर मारपीट होना स्वाभाविक ही था। किंतु सावरकर जी ने मारपीट होने नहीं दी, प्रत्युत् इन छात्रों को अपने समक्ष बैठाकर उन्होंने पूछा, "यह 'गो बैक' का नारा आपने क्यों दिया?" प्रश्न पूछना ही था कि नवीं कक्षा का एक छात्र खड़ा हुआ और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उसने ढिठाई के साथ अंग्रेजी में प्रश्न किया, "सावरकर महाशय, अपने हिन्दू राष्ट्र का 'ब्लूप्रिंट' क्या आप हमें विस्तार से बता सकेंगे?"

उस लड़के की आयु और उसका प्रश्न ध्यान में लेते ही यह बात समझने में देर नहीं लगी कि हमारे हाईस्कूल के एक कम्युनिस्ट शिक्षक ने ही यह उपद्रव करवाया था। सावरकर ने सामने बैठे हुए छात्रों की ओर एक क्षण देखा और कहा, "बच्चो, आप जीत गये, मैं हार गया। मैं आपके इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकता।"

बाद में पास ही बैठे हम लोगों की ओर देखकर उन्होंने बोलना प्रारंभ किया–

"इस बीच एक कालखण्ड ऐसा आया कि जब तीन देशों के तीन सुप्रसिद्ध क्रांतिकारी लण्दन नगर में आश्रय ले रहे थे। आयरलैंड के इमोन डि वेलेरा, भारत के सावरकर तथा रूस के लेनिन।

"लेनिन के पीछें रूसी गुप्तचरों का साया सदा लगा रहता था। भूमिगत अवस्था में लेनिन ने तीन दिन सावरकर के 'इंडिया हाउस' में आश्रय लिया था। रात्रि के भोजन के समय केवल सावरकर और लेनिन ही इक्ट्ठे होते थे।

"एक रात सावरकर ने लेनिन से कहा–

"आपके 'इज्म' में मुझे कोई रुचि नहीं। किंतु मैं यह अवश्य जानना चाहता हूँ कि आपके हाथ में सत्ता आती है, तो रूस का 'ब्लूप्रिंट' कैसा होगा।" लेनिन हँसे और कहा, "यह प्रश्न आप मुझसे इस समय क्यों पूछ रहे हैं? क्रियान्वयन की क्षमता आते तक ब्लूप्रिंट का विकास नहीं हो सकता। जब तक कार्य करते रहने के लिए मार्गदर्शक सिद्धांतों की आवश्यकता होती है। सत्ता प्राप्त होने के बाद उस समय की सारी परिस्थिति का स्वरूप ध्यान में लेकर ही 'ब्लूप्रिंट' का शनैः शनैः विकास करना होता है"।"

उसके बाद फिर से उन बच्चों की ओर मुड़ कर सावरकर ने कहा, "यही प्रश्न यदि लेनिन ने मुझसे किया होता तो मैं भी उनसे प्रतिप्रश्न करता कि उस समय आपने रूस के ब्लूप्रिंट के बारे में जो उत्तर दिया था, क्या आपको स्मरण है? लेनिन से तो मैं यह अवश्य पूछ सकता था, किंतु बच्चों, तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर मैं तुम्हें नहीं दे सकता।"

(इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि सत्ता प्राप्त होने के बाद एक प्रश्नकर्ता के प्रश्न का उत्तर देते हुए लेनिन ने कहा था कि आज की स्थिति में मेरा कम्युनिज्म है रूस का सोवियतीकरण एवं विद्युतीकरण।)

ऐसा दिखाई देता है कि 'ब्लूप्रिंट' की इच्छा का यह छूत का रोग हमारे देश के समाजवादियों को भी लग गया था। १९३४ में पटना में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के अधिवेशन के समय कांग्रेस के अंतर्गत कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की बैठक चलीं थी। तब पार्टी का प्रस्तावित कार्यक्रम जयप्रकाश जी ने महात्मा जी को बताया। उसमें एक विषय यह भी था कि मार्क्सवादी नारे की भांति 'प्रत्येक से उसकी क्षमता के अनुसार लेने वाली और प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार देने वाली' व्यवस्था समाज-रचना में होनी चाहिए। इस वक्तव्य पर अंगुली रखकर गांधी जी ने कहा, "जयप्रकाश जी आप यदि यह करते हैं तो मैं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शतप्रतिशत आपके साथ हूँ।" जयप्रकाशजी के ध्यान में आ गया कि गांधीजी शायद यही संकेत दे रहे हैं कि सिद्धांत कितना ही उत्तम क्यों न हो, निकट भविष्य में वह व्यवहार्य नहीं है। लेनिन ने लिख रखा है कि स्वयं कार्ल मार्क्स ने अर्थविज्ञान के बारे में एक भी शब्द नहीं लिखा था। इसका अर्थ यही हुआ कि उत्पादन एवं वितरण के अभिकरण (एजेंसियाँ) क्या होंगे, उनके परस्पर संबंध कैसे होंगे, विनिमय तथा उपभोग की व्यवस्था क्या होगी, विभिन्न आर्थिक हितों में परस्पर संबंधों का नियंत्रण करने वाला तन्त्र (मशीनरी) कैसा रहेगा, आदि बातों का विवरण मार्क्स ने नहीं दिया। मार्गदर्शक सिद्धांत ही सामने रखा और वही बात व्यावहारिकता एवं बुद्धिमानी की भी है।

'ब्लू प्रिंट' की मानसिकता के बारे में स्वयं कार्ल मार्क्स का क्या मत था? इसका विवरण वुल्फ गैंड लिआन हार्ड ने अपने 'थ्री फेसेज ऑफ मार्क्सिज्म' नामक ग्रंथ में इस प्रकार दिया है–

"विभिन्न अवस्थाओं में परिवर्तन के विवरण और विभिन्न लोगों के व्यावहारिक प्रश्नों के उत्तरों का विचार करने के बारे में कोई चर्चा करने से मार्क्स तथा एंजेल्स ने स्पष्ट रूप से इन्कार किया है। कारण, उनका मानना था कि इस प्रकार की चर्चा निरी कपोल-कल्पना ही होगी। श्रमिक वर्ग के पास ऐसी कोई भी बनी-बनायी कपोल-कल्पना नहीं है, जो क्रांतिकारी लोगों के सम्मुख रखी जा सकती है।" मार्क्स ने स्पष्ट शब्दों में कहा है, "उनके सामने अन्य कोई उद्देश्य नहीं है। उनका हेतु केवल इतना ही है कि नव समाज को जन्म देने वाली जो शक्तियाँ ढहते जा रहे पुराणपंथी समाज के गर्भ में विद्यमान हैं, उन्हें मुक्त किया जाये।"

"भावी समाज का संगठन करने के लिए आदर्शबद्धता का निर्माण करना कम्युनिस्टों का काम नहीं। विवरण की सूक्ष्मता में जाना तो उनका कतई कर्तव्य नहीं है। भावी समाज में अन्न या आवास के वितरण की व्यवस्था कैसी हो, इसके विचार सीधे कल्पनारंजन की ओर ले जाने वाले होते हैं।"

"भावी कम्युनिस्ट समाज के लोग क्या करें, इसके बारे में आज हम लोगों को क्या लगता है, इसका कोई मूल्य उस समाज की दृष्टि से नहीं है।"

हाल ही में प्रकाशित 'रीडिंग्स इन मार्क्सिस्ट सोसियोलॉजी' ग्रंथ में सम्पादक बूम टॉम बॉटमोर तथा पेट्रिक गुड लिखते हैं, "मार्क्स के समाजविज्ञान में इस बात का कोई विशेष विवेचन नहीं है कि समाजवादी समाज कैसा होगा। स्वयं मार्क्स को भावी समाज के बारे में अनुमान करते बैठने की अपेक्षा वर्तमान समाज तथा परिस्थिति का पृथक्ककरण करने में अधिक रुचि थी।"

इसी विषय पर एक प्रश्न का उत्तर देते समय ठाणे की बैठक में श्री गुरुजी ने कहा था, "प्रत्येक परिस्थिति की आवश्यकता को ध्यान में लेकर उचित समाज-रचना करने का हिन्दुओं को पूर्ण अधिकार है। शर्त केवल इतनी ही है कि ऐसी कोई भी रचना सनातन धर्म के शाश्वत सिद्धांतों के प्रकाश में तथा उनके अनुकूल ही हो।"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मद्रास की एक बैठक में एक कालेज-छात्र ने 'ब्लू प्रिंट' के बारे में ऐसा ही प्रश्न किया तो पंडित जी ने प्रतिप्रश्न किया था, "क्या आगामी पीढ़ियों के हाथ अभी से बांध रखने की आपकी इच्छा है?"

सारांश, 'ब्लू प्रिंट' के बारे में प्रश्न बचकाना है। पंडित जी ने ऐसा कोई 'ब्लू प्रिंट' नहीं दिया और इसी से उनके विचारों की गहनता सिद्ध होती है।

७.

हमारा कहना है कि धर्म का विचार दो भागों में हो— एक में सनातन, शाश्वत, कालजयी एवं अपरिवर्तनीय सिद्धांत का और दूसरा ऐसे सिद्धांतों के प्रकाश में बार-बार बदलने वाली परिस्थिति के लिए अनुकूल सिद्ध होने वाली अखण्ड परिवर्तनशील समाज-रचना का। (टालस्टाय ने धर्म के तीन विभाग किये हैं— १. एसेन्शिअल्स ऑफ रिलिजन. २. फिलॉसफी ऑफ रिलिजन व ३. रिचुअल्स ऑफ रिलिजन) सिद्धांत अपरिवर्तनीय हैं; उनके प्रकाश में की जाने वाली समाज-रचना परिस्थितिसापेक्ष और इसीलिए परिवर्तनशील है। कुछ ऐसी ही बात महान विचारकों के प्रकट चिंतन के बारे में भी होती है। शाश्वत सिद्धांत परिस्थितिनिरपेक्ष होते हैं। किंतु उनका स्पष्टीकरण तथा उनपर किये गये भाष्य सदा परिस्थितिनिरपेक्ष नहीं रह सकते। सिद्धांत भले ही वे ही क्यों न हों, प्रत्येक परिस्थिति की सूक्ष्म बातें समाज का स्तर, एवं प्रवृत्तियां आदि अनेक बातों को ध्यान में लेकर ही उसका प्रतिपादन करना होता है। एक ही मध्यम मार्ग बताना हो, तो उसका विशदीकरण क्रूर समाज के सामने करते समय जिस शब्द-रचना एवं जैसे विषय-प्रतिपादन की आवश्यकता पड़ती है, वे कायर लोगों के सम्मुख उपयोगी नहीं होते। आशय एक ही क्यों न हो, आग्रह में अंतर पड़ता ही है। इसीलिए अनेक बार एक ही तत्त्वप्रणाली के विभिन्न कालखण्डों अथवा विभिन्न भूभागों में हो चुके प्रवक्ताओं के प्रकट वक्तव्यों में विरोधाभास पाया जाता है। यही नहीं, कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि एक ही श्रेष्ठ पुरुष प्रसंगवश कहीं परस्पर विसंगत अथवा परस्पर विरोधी विचार तो नहीं व्यक्त कर रहा है। भगवद्गीता का त्याग कर फुटबाल खेलने का विवेकानंद द्वारा दिया गया उपदेश इसी श्रेणी में आता है। जिस परिस्थिति में संभाषण, भाषण, या लेखन किया गया हो, उसका संदर्भ एवं प्रसंग ध्यान में लिए बिना केवल शब्दों का वाच्यार्थ लेने से गड़बड़ हो सकती है। किसी भी महान व्यक्ति के विचारों का दर्शन करते समय इस विवेक को ध्यान में लेना आवश्यक होता है।

एक अन्य विचारबिन्दु का सरसरी दृष्टि से उल्लेख इससे पूर्व किया गया है। पंडित जी के साहित्य में अधिकांश रूप से सभी प्रचलित एवं संभाव्य समस्याओं के बारे में मार्गदर्शन मिलता है, किंतु उसका स्वरूप दो प्रकार का है। एक तो मार्गदर्शक सिद्धांतों का केवल सूत्र रूप में प्रस्तुतीकरण और दूसरा, ऐसे सूत्रों का विश्लेषणात्मक विशदीकरण। पंडित जी के साहित्य में इन दोनों स्वरूपों में मार्गदर्शक सूत्र सभी समस्याओं के बारे में दिये हुए हैं। किंतु प्रत्येक सूत्र का विशदीकरण उसमें होगा ही, ऐसा नहीं कहा जा सकता। किसी सिद्धांत का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रतिपादन किया गया हो, और उसका स्पष्टीकरण करने की आवश्यकता प्रकट करने वाली परिस्थिति उत्पन्न न हुई हो, तो व्यर्थ में ऐसा स्पष्टीकरण देने में समय गँवाना किसी भी व्यावहारिक कार्यकर्ता को भायेगा नहीं। कारण, ऐसे प्रतिपादन का उद्देश्य डाक्टरेट प्राप्त करने के लिए शोध-प्रबंध लिखना नहीं होता, वरन समाज को व्यावहारिक दिशादर्शन देने का होता है। अतः जिस प्रश्न पर विवाद, तूफान, संभ्रम या विस्फोटक परिस्थिति पैदा हुई हो, उस प्रश्न में अनुस्यूत तत्त्व का विशदीकरण ऐसा विचारक बिना चूके करेगा, किंतु परिस्थिति की आवश्यकता न हो तो इतना विस्तृत स्पष्टीकरण देने की झंझट में वह नहीं पड़ेगा। जिस प्रश्न या सिद्धांत के बारे में स्पष्टीकरण नहीं दिया गया है, उस प्रश्न या सिद्धांत के बारे में विचारक की भूमिका संदिग्ध थी अथवा विस्तार में मार्गदर्शन करने की क्षमता उसमें नहीं थी, ऐसा कहना गलत होगा। इसीलिए कुछ महत्त्वपूर्ण और आस्था के प्रश्न ऐसे हैं जिनके बारे में पंडित जी ने केवल सूत्र रखे, भाष्य नहीं किया। यह विषय स्पष्ट रूप से समझ में आये, इसलिए इस प्रकार की एक संपूर्ण समस्या लेकर उस पर सभी अंगों से विवरण देना उपयुक्त होगा।

ऐसी समस्या हमारे सम्मुख उपस्थित सामाजिक प्रश्न ही हैं। इनके बारे में यह नियम लागू होता है।

८

'सिद्धांत एवं नीति' शीर्षक अभिलेख में मार्गदर्शक सिद्धांत के रूप में सामाजिक समस्याओं के बारे में कुछ तत्त्व ग्रथित किये गये हैं और तत्त्व की दृष्टि से वे अपने आप में परिपूर्ण हैं। किंतु उनका विस्तार के साथ विशदीकरण करने का प्रसंग पंडित जी के समय में नहीं आया। तत्त्व तो अंकित किये गये; किंतु विशदीकरण आवश्यक हो, ऐसा प्रसंग या परिस्थिति तब उत्पन्न नहीं हुई थी। जोन नोक्स की भांति प्रखर आक्रमण करने वाले डा. बाबासाहेब अम्बेडकर का आंदोलन, मांगें एवं धर्मान्तरण, सब कुछ उस कालखण्ड में अवश्य हुआ। किंतु आंदोलन की बागडोर बाबासाहब जैसे उत्तरदायित्वपूर्ण एवं प्रशिक्षित देशभक्त के हाथों में होने के कारण सामाजिक समस्याओं पर सार्वजनिक चर्चा भी अवश्य हुई, पर उसका स्वरूप उग्र एवं चिन्ताजनक कभी नहीं रहा था[१६]।

आरक्षण के प्रश्न पर गत दिनों कभी पक्ष में, कभी विपक्ष में उग्र एवं हिंसक आंदोलन हुए हैं। कुल सामाजिक परिस्थिति में एकदम वांछनीय मोड़ आ रहा है। संवेदनशील एवं जनमानस को छूने वाले प्रश्न बंद सभागृहों से निकल बाहर सड़क पर आ रहे हैं। ऐसी स्थिति उस समय न होने के कारण तत्त्वचिंतन अवश्य हुआ, किंतु तत्त्वों का विशदीकरण करने की परिस्थिति नहीं आयी[१७]।

पंडित जी किसी भी क्षेत्र में यथास्थिति वादी नहीं थे। उनका मत था कि समाजरचना में मकड़ी के पुराने जालों को झाड़-पौंछकर समाज को युग के अनुकूल नया मोड़ देना चाहिए। सामाजिक विषयों में उन्होंने क्रांति का समर्थन नहीं किया, तो उसी प्रकार यथास्थितिवाद का भी नहीं किया। उनका मार्ग पुनर्जागरण का था

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और उनका मानना था कि उसके लिए समाज के सभी घटकों में परस्पर सामंजस्य रखकर धैर्यपूर्वक अभीष्ट मार्ग पर चलते रहना आवश्यक है। वे कहा करते थे कि किसी भी पक्ष में छोर की भूमिका लेने से सभी की हानि होगी। सामाजिक समस्याओं का समाधान करना रेशम के धागों की गुत्थी सुलझाना है। तलवार लेकर 'गार्जियन नॉट' को काट डालने का मार्ग उचित नहीं है। सदियों से शोषित, पीड़ित, दलित और फलस्वरूप पिछड़ी अवस्था में रहने वाले समाज को शेष समाज की बराबरी की सुविधाएं एवं संरक्षण देना उचित ही है और वैसा करते समय प्रगत वर्ग शिकायत करते हैं तो वह सामाजिक एकात्मता के अभाव का ही लक्षण माना जायेगा। किंतु डा. अम्बेडकर का भी मत था कि इसके साथ ही ऐसी सुविधाओं एवं संरक्षणों का लाभ लेकर शीघ्रातिशीघ्र अपने पाँव पर खड़े होने का हठ (जिद) पिछड़े वर्गों में यदि निर्मित नहीं हुआ, 'उद्धरेद् आत्मनात्मानम्' की वृत्ति उनमें न आयी और उसके स्थान पर जातिवाद पर आधारित संकीर्ण स्वार्थ उनमें जाग गये तो ये सभी सुविधाएं एवं आरक्षण-संरक्षण उन्हें सदा के लिए पंगु बना देंगे। इसलिए उन्होंने इन बातों के लिए स्वयं ही एक काल-मर्यादा निश्चित कर दी थी। उनकी इस विचारधारा का मर्म पिछड़े वर्गों ने ध्यान में नहीं लिया। इसके परिणामस्वरूप तथा राजनीतिक कारणों से भी उनके द्वारा दी गयी योजना पर आचरण करने में अनेक त्रुटियाँ एवं दोष निर्मित हो गये हैं, जिससे आज की अनवस्था का प्रसंग हम पर आया है।

केवल आरक्षण के प्रश्न के बारे में ही नहीं, अपितु अन्य सभी सामाजिक प्रश्नों के बारे में भी उनके विचार राजा राममोहन राय से लेकर डा. अम्बेडकर तक के सुधारकों के समान ही थे। न्यायमूर्ति रानडे द्वारा निम्न वक्तव्य में व्यक्त भावना पंडित जी के विचारों के साथ मेल खाने वाली थी:—

"इस प्रकार, हम सबको जो परिवर्तन लाना है उसका स्वरूप बंधन से मुक्ति, भावुकता से श्रद्धा, प्रतिष्ठा की भावना से सामंजस्य, अधिकार जताने की वृत्ति से तर्कशुद्धता, असंगठित जीवन से संगठित जीवन, अतिरेकी आग्रह से सहिष्णुता, और अंधे दैववाद से मानव-प्रतिष्ठा के विचार की ओर ले जाने वाला होगा। इस देश के विभिन्न सामाजिक गुटों तथा व्यक्तियों—दोनों की दृष्टि से सामाजिक क्रांति का यही अर्थ मैं लेता हूँ।"

किंतु यह कार्य केवल विद्वेषमूलक संघर्ष से होने वाला नहीं है। अथवा विधान बनाने से भी बात बनने वाली नहीं। सामाजिक क्रांति के कार्य में विधान का स्थान क्या है, इस विषय में डा. अम्बेडकर ने जो बात कही थी, उसमें पंडित जी के विचार प्रतिबिंब होते हैं। बाबा साहेब ने कहा है:—

"अधिकार का संरक्षण विधान (कानून) से नहीं, समाज की सामाजिक एवं नैतिक सद्विवेकबुद्धि से होता है। विधान द्वारा दिये गये अधिकारों को स्वीकार करने के लिए समाज-मानस सिद्ध हो, तभी वे अधिकार अबाधित एवं सुरक्षित रहेंगे। किंतु मौलिक अधिकारों का समाज ही विरोध करता हो, तो कोई भी विधान अथवा न्यायसंस्था सच्चे अर्थ में उसकी गारंटी नहीं दे सकेगी।"

इस दृष्टि से पंडितजी कहा करते थे कि सामाजिक सदसद्विवेकबुद्धि को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जाग्रत करने का काम सभी देशहितैषियों को करना चाहिए। उनकी श्रद्धा थी कि हिन्दुओं के सामाजिक एवं नैतिक नव-जागरण का सच्चा प्रभावशाली मार्ग राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की कार्यप्रणाली में है।

यहां केवल उदाहरण के लिए और आज की स्थिति का महत्त्व समझने के लिए इस संपूर्ण प्रश्न का विस्तृत वर्णन किया है। सामाजिक कुरीतियों का भी इसी वर्ग में समावेश होता है। किंतु इस प्रकार के अन्य प्रश्न तब तक विशेष रूप से नहीं उठे थे।

इस विषय में भी कि समाज-सुधार के बारे में बोलने का अधिकार किसको है, पंडित जी का मत लोकमान्य तिलक के समान था। लोकमान्य कहा करते थे, "हिंदू धर्म में या रीति-रिवाजों में सुधार चाहने वाले को पहले तो यह पूरा अभिमान होना चाहिए कि 'मैं हिन्दू हूँ और मुझे हिन्दू ही रहना है'। लूथर आदि सुधारक भी इसी मत के थे।" यह ध्यान देने योग्य है कि मार्टिन लूथर की बाईबल तथा जीसस में पूर्ण श्रद्धा थी। कालविन, ज्विगली, डेकार्ट, बेकन आदि के बारे में भी यही कहा जा सकता है।

पंडितजी कहा करते थे कि अपने धर्म पर जिसकी दृढ़ श्रद्धा नहीं, 'मैं हिन्दू हूँ,' इसका जिसे अभिमान नहीं, ऐसे व्यक्ति को हिंदू धर्म या समाज में कोई सुधार करने की आवश्यकता बताने का नैतिक अधिकार नहीं है। ध्यान देने योग्य है कि वेदोक्तबंदी, व्यवसायबंदी, स्पर्शबंदी, सिंधुबंदी, शुद्धिबंदी, रोटीबंदी, व बेटीबंदी के विरोध में धुआँधार जन-जागरण करने वाले स्वातन्त्र्यवीर सावरकर कट्टर हिंदुत्ववादी थे।

प्रतिपाद्य विषय स्पष्ट करने हेतु केवल एक उदाहरण के रूप में एक विशेष समस्या को लेकर अब तक उसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया। विगत १८ वर्षों में ऐसी कुछ और समस्याएं भी देश के सम्मुख उपस्थित हुई हैं। आने वाले समय में ऐसी समस्याओं की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ने वाली हैं। इन सब का विचार करते समय ध्यान में रखने योग्य तत्त्व पंडितजी ने अपने लेखों में सूत्र रूप में रखा है। किंतु उनका विस्तारपूर्वक वर्णन उन्होंने नहीं किया है। इसका कारण यह नहीं था कि उन तत्त्वों का विशदीकरण करने के लिए आवश्यक बौद्धिक क्षमता का उनमें अभाव था, वरन् सच्चा कारण यह था कि विशदीकरण आवश्यक प्रतीत हो ऐसी परिस्थिति ही पंडित जी के जीवनकाल में पैदा नहीं हुई थी। तथापि भविष्य में ऐसी समस्याओं का सामना करते समय पंडित जी के अनुयायियों को उनके मार्गदर्शक सिद्धांतों को सम्मुख रखकर उनके आधार पर समाधान खोजने हैं।

९.

इस ग्रंथ का नाम 'विचार-दर्शन' है। हम लोग कहते हैं कि दीनदयालजी एक श्रेष्ठ विचारक थे। वास्तविक 'विचारक' की संज्ञा से उनके बारे में उचित बोध होना चाहिए। पंडित जी को जानने वाले लोगों के मन में उनके बारे में सुयोग्य एवं यथार्थ प्रतिमा 'विचारक' संज्ञा से निर्मित होती है। किंतु फिर भी इस संज्ञा के बारे में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

थोड़ा स्पष्टीकरण देना इन दिनों आवश्यक हो गया है। कारण, विगत दो दशकों में 'विचारवान्' अथवा विद्वान् शब्द देश में और विशेषतः राजधानी में कुछ निराले ही बुद्धिमानों के साथ जुड़ गया है। सरकार अथवा विरोधी दलों को उनकी नीतियों के बारे में परामर्श देने की योग्यता एवं तत्परता रखने वाले लोगों के अलग-अलग वर्ग हैं, क़िंतु सबकी श्रेणी एक ही है 'विचारवंतों' की।

'एजेंडा फॉर इण्डिया' शीर्षक प्रबंध तैयार करने वाले सर्वश्री रजनी कोठारी, रोमेश थापर, जार्ज वर्गीज, बशीरुद्दीन अहमद, कुलदीप नैयर, तथा मृणालदत्त चौधरी, 'दि सेन्टर फॉर दि स्टडी ऑफ डेवलपिंग सोसाइटी' में काम करने वाले गिरि देशिगकर तथा डी.एल. सेठ, 'द सेन्टर फॉर पॉलिसी रिसर्च' के भवानी सेनगुप्ता एवं प्राण चोपड़ा, पी.यू.सी.एल. तथा पी.यू.डी.आर. के श्री वी.एम. तारकुंडे और अरुण शोरी तथा जे.डी. सेठी आदि लोग इस श्रेणी में आते हैं। इन लोगों की योग्यता और उनके योगदान का महत्त्व सर्वमान्य है। प्रसंग विशेष में उनके साथ मतभेद रखने वालों को भी 'विचारवंत' के नाते इन सबके बारे में उचित आदर रखकर यह स्पष्ट करना आवश्यक लगता है कि दीनदयाल जी की श्रेणी इन सबसे भिन्न किंतु 'बेजोड़' थी। उद्देश्य, जीवन-कार्य का स्वरूप, विचारों का स्तर एवं उसकी पहुँच, सभी दृष्टियों से पंडित जी भिन्न श्रेणी वाले थे। पंडितजी और उनके समान अन्य भारतीय दार्शनिकों का मानव के वैचारिक इतिहास में स्थान एवं श्रेणी क्या थी, इसका शास्त्रशुद्ध विचार और भी एक दृष्टि से किया जाना आवश्यक है।

हमारे विद्वानों के मन पर पश्चिमी प्रभुता का प्रभाव आज भी बना हुआ है। उनकी श्रद्धा है कि जो-जो अपना है वह त्याज्य और जो-जो पश्चिमात्यों का है वह उत्कृष्ट है। अतः पश्चिमी तत्त्वज्ञान और तत्त्वज्ञ सर्वश्रेष्ठ हैं, यह निष्कर्ष क्रमप्राप्त ही है। इन दिनों लगभग सभी प्रमुख भाषाओं में पाश्चात्य तत्त्वज्ञान का इतिहास न्यूनाधिक मात्रा में प्रकाशित हुआ है। ग्रीक दर्शन पर गॉम्पर्ज, बर्नेट, जैलर, कुशमन, विंडलबैंड, अर्लिक, रॉस, हिक्स, थिली, स्टेस, रोजर्स, टेलर, रसेल, कॉपल्स्टन आदि लेखकों का साहित्य उपलब्ध है। पाश्चात्य जगत के सर्वप्रथम दार्शनिक थेलिस, एनैक्जीमेंडर और एनेक्जीमेनिस से लेकर प्राचीन दर्शन के संपूर्ण कालखंड पर प्रकाश डालने वाला साहित्य अब उपलब्ध है। इसमें ग्रीक दर्शन का कालखण्ड ईसापूर्व ६२५ से लेकर ईसापूर्व ३२२ तक, अर्थात् अरिस्टाटल की मृत्यु तक का है। साक्रेटिस, प्लैटो तथा अरिस्टाटल का यही कालखंड है। अरिस्टाटल की मृत्यु से नवप्लेटोवाद के अंत तक, अर्थात ईसापूर्व ३२२ से सन ४७६ तक, हेलेनिस्टिक अर्थात रोमन दर्शन का कालखंड भी लगभग इसी कालखंड के साथ आता है। इसे प्राचीन दर्शन का कालखंड कहा जाता है। ४७६ से १४५३ तक का कालखंड मध्ययुगीन दर्शन का माना जाता है। आगस्टीन, ओरिजेन, एरिजेना, रॉसेलिन, अन्सेल्म, एबेलॉर्ड, टॉमस एक्वायनस, डन्स स्काट्स, ओखैम, एखार्ट, निकोलस, कुजनस, ये सब इसी काल के दार्शनिक थे। सन १४५३ से आज तक का कालखण्ड, अर्वाचीन दर्शन का है। उसमें १४५३ से १६९० तक का कालखण्ड नवजागरण (Renaissance) की संज्ञा से पहचाना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जाता है। नवजागरण के अग्रदूत के रूप में विख्यात हैं– कुसा के निकोलस, लिओनार्दो द विन्सी, कोपरनिकस, ब्राहे, केप्लर, गैलिलिओ, हाइजेन्स, न्यूटन आदि वैज्ञानिक और फ्रांसिस बेकन, टामस हाब्स, देकार्त, स्पिनोजा, लाइब्निज, परासेल्सस, ब्रूनो, कांपानेला, टेलेसिओ, मैकीआवेली, बोदँ, जैकब बोहम, थामस मूर, ग्रोशियस, अॅल्थूसिअस, हर्बर्ट ऑफ चेर्बरी आदि विचारक। १६९० से १७८१ तक (लॉक के प्रबंध से लेकर काण्ट की मीमांसा तक) का कालखण्ड प्रबोधन का माना जाता है। लॉक, बर्कले, ह्यूम, पिअरी, बॉइल, वाल्टेयर, रूसो इस कालखंड के प्रमुख दार्शनिक थे। (प्राविधिक दृष्टि से प्रबोधन का कालखण्ड १७८१ में समाप्त माना जाता है। फिर भी इसके प्रभाव की छाया १९वीं सदी में जेरेमी बेन्थम, जॉन स्टुअर्ट मिल, ऑगस्ट कााम्टे तथा २०वीं सदी में विलियम जेम्स, जॉन ड्यूई, जार्ज सान्तयाना और बर्ट्रेण्ड रसेल के साहित्य पर पड़ा पाया जाता है। १७८१ से लेकर १८३१ तक अर्थात् काण्ट की मीमांसा से लेकर हेगल की मृत्यु तक का कालखंड जर्मन प्रत्ययवाद या आदर्शवाद के नाम से जाना जाता है। राइनहोल्ड, मैमान, शुल्ज, बेक, हर्डर, जैकोबी, गेटे, शिलर, हार्डेनबर्गनोवालिस, फिश्टे, शेलिंग, सेलायरमाकर तथा हेगल इस कालखंड के दार्शनिक हैं। १८३१ से आगे के कालखंड को विकासकाल या आधुनिक कहा जाता है। इस कालखंड के पाश्चात्य दार्शनिकों और पश्चिमी तत्त्वज्ञान के विविध प्रवाहों की संपूर्ण जानकारी भारतीय शिक्षित लोगों को है, इसलिए उनके नामों की सूची न देने से भी काम चल सकता है। जैसा कि पहले कहा गया है, इस विषय पर सभी प्रमुख भाषाओं में साहित्य उपलब्ध है। कॉपल्स्टन, बर्नाड, डेल्फगाऊ, एमिल ब्रेहिएल, आई.एम. बोचेन्स्की तथा बर्जिलियस फर्म के ग्रंथ इस दृष्टि से सहायक हैं। पाल एडवर्डस् का ग्रंथ 'द एन्साइक्लोपीडिया ऑफ फिलासफी' इस विषय पर प्रमाणभूत माना जा सकता है। पाश्चात्य दर्शन के इतिहास और समकालीन दर्शन पर हिन्दी में भी अब अनेक पुस्तकें उपलब्ध हैं।

उपरिनिर्दिष्ट पाश्चात्य दार्शनिकों एवं विचारकों की सच्ची महानता को भारतीय मन भलीभाँति समझ सकता है। पिछली कुछ सदियों में विश्व की घटनाओं का केंद्र पश्चिम में रहा, अतः उधर के प्रत्येक विचार को दर्शन की दृष्टि से उसकी वास्तविक योग्यता से कहीं अधिक महत्त्व प्राप्त होता गया– जो कि स्वाभाविक भी है। हमारे यहाँ के 'विद्वानों' को तो इस बात का बोध तक नहीं कि पश्चिम के बाहर भी कोई तत्त्वज्ञान है और वह एक सुसंस्कृत तत्त्वज्ञान है। अतः इस विषय का वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन होना आवश्यक है।

एक तो 'पाश्चात्य दर्शन' शब्द का प्रयोग करने वालों के मन में केवल यूरोप, ब्रिटेन तथा अमरीका की विचारधाराएं ही होती हैं। रूस के वैचारिक इतिहास का भी इस परंपरागत 'पाश्चात्य दर्शन के इतिहास' में स्थान नहीं होता। यह बात अलग है कि रूस एक महाशक्ति होने के कारण उसने इन त्रुटियों की भरपूर भरपाई स्वयं ही कर ली है। उसी प्रकार दक्षिण तथा लैटिन अमरीका का भी विचार इन इतिहासकारों के मन में नहीं होता। पाश्चात्य इतिहासकारों के मन में जो बात नहीं है, वह पढ़े-लिखे भारतीयों के मन में भला कैसे आ सकती है। उदाहरण के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लिए, ब्राजील के लुई पेरिरा, बारेतो, मैक्सिको के गाबिनो बारेदा, पेरू के मोरियानो कॉर्नेजो, चिली के लास्तारिया, बोलिविया के बेंजामिन फर्नाण्डिज, अर्जेण्टीना के जे. अल्फ्रेडो फेरिरा तथा क्यूबा के एनरिक जोसे वारोना, अथवा आधुनिक काल में पेरू के अलेयान्द्रो दुस्तुआ, उरुग्वे के जोस एनरिक रोडो, या मैक्सिको के जुस्तो सीरा के नाम भी क्या हमारे पढ़े-लिखे लोगों को ज्ञात हैं? श्री फुल्लर ने अपने 'ए हिस्ट्री ऑफ फिलासफी' नामक ग्रंथ में लैटिन अमरीका पर दो अध्याय लिखे हैं, किंतु 'पाश्चात्य दर्शन' की कल्पना में जो एकांगिता आ गयी है, उसे दूर करने के लिए वे पर्याप्त नहीं हैं।

दूसरी बात, पाश्चात्य तत्त्वज्ञान का इतिहास केवल ढाई हजार वर्ष का है। स्थूल रूप में तो प्राचीन तत्त्वज्ञान के कालखण्ड का इतिहास एक हजार वर्ष का, मध्ययुगीन का एक हजार वर्ष का और अर्वाचीन पाँच-साढे पाँच सौ वर्ष का है। भारत में तत्त्वचिंतन वैदिक काल में नासदीय सूक्तों से प्रारंभ हुआ और तब से वह चिन्तन-गंगा अखण्ड समृद्ध होती रही है। यह कुल कालखण्ड कितने हजार वर्षों का होगा, निश्चित करना होगा।

पश्चिमी चिन्तन का बड़ा भाग प्राप्त परिस्थिति की प्रतिक्रिया के रूप में है। भारतीय चिंतन का अधिकांश भाग परिस्थितिनिरपेक्ष मूलभूत चिंतन का है। अतः उसमें शाश्वतता अधिक है।

विशेषतः इस विषय में अनुसंधान होने की आवश्यकता है कि पश्चिम में जिस प्रकार तत्त्वज्ञ की एक विशेष श्रेणी मानी गयी है और तत्त्वज्ञान के संबंध में विचारों को विज्ञान के साथ जोड़ा गया है, उसी प्रकार भारत में क्या कभी हुआ था? पश्चिम का विचार सदैव खण्डकरण पद्धति का रहा है। वे खण्डशः ही विचार करते हैं। हमारे विचार में सदैव समग्रता रही है। इसका परिणाम विचारकों की श्रेणियाँ निश्चित करने पर भी हुआ है।

इस बात को स्पष्ट करने के लिए एक ही उदाहरण पर्याप्त है। पश्चिम के देकार्त, स्पिनोजा, लाइब्निज, लॉक, तथा होब्स आदि लोग स्थूल दृष्टि से समर्थ रामदास के समकालीन थे। समर्थ रामदास के साथ किसी ने भी समाजशास्त्रज्ञ विशेषण नहीं जोड़ा। उनका वर्णन करते समय तत्त्वज्ञ शब्द भी प्रयुक्त नहीं किया जाता। किंतु एक विद्वान समर्थ-भक्त श्री प्रभाकर पुजारी का कहना है कि उपर्युक्त पाँचों पाश्चात्य विद्वानों ने समाजशास्त्र के बारे जितना कुछ लिखा है, उससे कहीं अधिक एवं उच्चस्तरीय विचार उस शास्त्र के बारे में समर्थ रामदास के साहित्य में पाये जाते हैं। हिन्दू पद्धति के अनुसार उसे चिंतन का अलग भाग न मानते हुए कुल समर्थसाहित्य में उसको पिरोया गया है। अब प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या समर्थ रामदास स्वामी को तत्त्वज्ञ की श्रेणी में रखा जाये? तत्त्वज्ञ की श्रेणी में क्या उन्हें बांध दिया जाये? कुल जीवन का समग्र दर्शन लेने की हिन्दू परंपरा को ध्यान में लेते हुए समर्थ जी को इस प्रकार श्रेणीबद्ध करना अनुचित लगता है।

उदाहरण के लिए एक महापुरुष को लें तो अन्य महापुरुषों की स्थिति भी वैसी ही है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हिन्दुओं का 'दार्शनिक' शब्द विशेषतः 'तत्त्वज्ञ' शब्द से कहीं अधिक गहरा, ऊँचा एवं व्यापक है। इस समय भारतीय भाषाओं में इन दोनों शब्दों को पर्यायवाची मानने की प्रथा बढ़ रही है जो शास्त्रशुद्ध नहीं है।

दार्शनिक और तत्त्वज्ञ दो भिन्न श्रेणियाँ हैं। हमारे कहने का अर्थ यह नहीं कि पहली श्रेणी के लोग भारत के बाहर विशेषतः पश्चिम में उत्पन्न ही नहीं हो सकते। किंतु उधर के विचारकों का इन दो श्रेणियों में स्पष्ट विभाजन करने का काम अभी नहीं हुआ है। शायद यह दृष्टिकोण अभी उन्हें प्राप्त नहीं हुआ है। जो भी हो, जब तक इन दो श्रेणियों में विद्यमान अंतर को ध्यान में नहीं रखा जाता, पंडित जी और उनके जैसे अन्य दार्शनिकों का वैचारिक इतिहास में स्थान केवल पश्चिम की परिभाषा से निश्चित करना अन्यायकारी होगा। इसमें यह प्रश्न नहीं है कि कौन श्रेष्ठ है और कौन कनिष्ठ। दोनों श्रेणियाँ अलग-अलग हैं, इतना ही संकेत यहाँ देना है।

१०.

यह समग्र ग्रंथ (इस प्रस्तावना-खण्ड के अतिरिक्त) ६ खंडों में बँटा है। एक अर्थ में हर खंड अपने में स्वयंपूर्ण व स्वायत्त है। दूसरे अर्थ में सभी खंडों को मिलाकर एक समग्र वैचारिक प्रतिपादन आकार लेता है और प्रत्येक खंड उस प्रतिपादन का एक अंग है। अलग-अलग फाँकें और उनको अपने अंदर बंद करने वाला छिलका, सब मिलकर एक नारंगी (संतरा) बनती है। वैसे देखा जाये तो नारंगी की हर फाँक अपने में स्वयंपूर्ण एवं स्वायत्त है और साथ ही समग्र नारंगी का एक अंग भी। यह प्रकरण भी कुछ ऐसा ही है।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, सभी खंडों के लेखक सिद्धहस्त हैं। अतः प्रत्येक विषय का प्रतिपादन जितना अधिकाधिक सुबोध करते बना, उन्होंने करने का प्रयास किया है। किंतु कुछ विषयों का स्वरूप ही ऐसा है कि उनका प्रस्तुत विवरण से अधिक सुबोध विवरण हो नहीं सकता।

उदाहरण के लिए, 'संस्मरण' विषय मूल में जितना उद्‌बोधक उतना ही सुबोध भी है। राजनीति विषयक खंड सहजगम्य होगा, क्योंकि इन दिनों राजनीतिक जागृति पर्याप्त बढ़ी है। 'राष्ट्र-विचार' तो गत कई दशकों से गरमागरम सार्वजनिक चर्चा का विषय बना है। उस विषय के विविध पक्ष जनता के सम्मुख आ चुके हैं। राजनीतिक उत्तराधिकार का विषय भी जहां तात्त्विक है वहाँ व्यावहारिक भी है। उसका यहाँ किया गया प्रतिपादन अपने में स्पष्ट है।

शेष दो भागों की बात कुछ निराली ही है। 'एकात्म अर्थनीति' भावी आर्थिक रचना की दिशा की ओर संकेत करने वाला है। राजनीतिक प्रश्नों के बारे में जैसी व्यापक चर्चा आज तक हुई है, आर्थिक प्रश्नों पर नहीं हुई। अतः उसकी सूक्ष्म बातें भी उतनी मात्रा में जनता के सम्मुख नहीं आयी हैं। 'एकात्म मानव दर्शन' तो जानबूझकर तात्त्विक ही है। तत्त्वज्ञान विषय को सुबोध बनाने की भी कुछ अन्तर्निहित मर्यादाएं हैं। अतः सामान्य पाठकों को ये दो खंड कुछ क्लिष्ट लगने की संभावना है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रत्येक भाग का समालोचन या रसग्रहण करने का यह स्थान नहीं। वह काम और अधिकार पाठकों का है। तथापि प्रतिपादन के कहीं-कहीं शायद कुछ दुर्बोध प्रतीत होने वाले भाग समझ लेने में सहायता हो, इसी हेतु यहाँ कुछ लिखना अनुचित नहीं होगा, प्रत्युत् वह रसग्रहण के लिए पोषक ही होगा।

अन्य प्रत्येक विषय की भांति 'एकात्म अर्थनीति' का भी चित्रफलक (Canvas) विस्तृत है। किंतु थोड़े से लोकप्रिय नारों को छोड़ दिया जाये तो आर्थिक नीतियों के बारे में लोगों को प्रशिक्षित करने का प्रयास हमारे देश में सामान्यत: नहीं होता। दल का चुनाव घोषणापत्र एक कर्मकांड बनकर रह गया है। उनमें दिये गये आर्थिक कार्यक्रमों का विवेचन प्रत्यक्ष प्रचार-अभियान में बहुत ही अल्प मात्रा में या नाम मात्र के लिए ही होता है। दल की प्रशंसा अधिक, जन-शिक्षा कम, ऐसी ही इस विषय की अवस्था है। अत: इस विषय के विवेचन का आकलन करना सामान्य मनुष्य के लिए कठिन हो जाता है।

इस ग्रंथ में आर्थिक विषय ठीक से समझ में आने की दृष्टि से उसकी पृष्ठभूमि एवं मौलिक सिद्धांतों को ध्यान में लेना उपयुक्त होगा। भारतीय संस्कृति के प्रकाश में की जाने वाली रचना के युगानुकूल मूलभूत आर्थिक तत्त्व श्री गुरुजी ने सन १९७२ में ठाणे में हुए अखिल भारतीय शिविर में प्रस्तुत किये थे। उनको ध्यान में रखें, तो इस ग्रंथ का आर्थिक विवरण समझना सरल हो जायेगा[१८]।

'एकात्म मानवदर्शन' सम्पूर्ण अस्तित्व के मूलगामी एवं सर्वव्यापी तत्त्व की खोज करने वाला 'दर्शन' है। पंडित जी राजनीतिक क्षेत्र में कार्य करते थे। उस क्षेत्र में 'इज्म' शब्द ही प्रचलित था। सर्वसामान्य लोगों को यह सिद्धांत समझाकर बताना था। अत: पंडित जी को यद्यपि 'वाद' शब्द मूलत: अभिप्रेत नहीं था, जनसामान्य की समझदारी के स्तर के साथ व्यावहारिक समझौता करने के लिए उन्होंने अपने विचारों को 'वाद' की संज्ञा दी और वैसा करते समय यह भी दक्षता बरती कि ऐसा व्यक्ति जब इस विचार या 'वाद' को समझ लेने की स्थिति में आ जायेगा तो उसी समय उसके ध्यान में यह भी आ जाये कि अपनी समझ में आया यह विचार 'वाद' की परिसीमा में बंध सकने वाला सीमित एवं तात्कालिक नहीं है, यह एक सार्वदेशिक तथा कालजयी 'दर्शन' है। छोटे बच्चों को प्रारंभ में हम लोग कहा करते हैं कि चंदामामा सामने वाले पेड़ की डाल पर बैठा हुआ है। यह भी बात कुछ वैसी ही है। किंतु वस्तुत: यह वादातीत, एवं निर्विवाद 'दर्शन' है। (दर्शन शब्द का पाश्चात्य भाषाओं में सटीक पर्यायवाची नहीं है)।

एकमेवाद्वितीय तत्त्व के बारे में कहा गया है, "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसासह।" अर्थात् तत्त्व जितना गहन उतना ही सूक्ष्म होगा। गहन तत्त्व की सूक्ष्मता की कोई सीमा नहीं। शब्द के द्वारा होने वाली अभिव्यक्ति के लिए सूक्ष्मता की सीमाएं हैं। शब्दों की अभिव्यक्ति की शक्ति सीमित है। इसके विपरीत 'दर्शन' की सूक्ष्मता असीम है। ऐसे सूक्ष्म तत्त्वों की अभिव्यक्ति के लिए शब्दों के प्रयास दयनीय एवं क्लिष्ट प्रतीत होते हैं।

इसका अर्थ यह नहीं कि दर्शन मूल में ही क्लिष्ट, कष्टदायक या उकताने वाला है। क्लिष्टता तो प्रकटीकरण में है, दर्शन की अनुभूति या साक्षात्कार में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नहीं। जिसने गुड़ कभी खाया न हो, उसे शब्दों के माध्यम से गुड़ का स्वाद समझाना बड़ा कठिन है और उसे समझाने और सुनने वाले, दोनों के लिए उकता देने वाला हो सकता है। किंतु प्रत्यक्ष में गुड़ का स्वाद लेना कष्टदायक तो है ही नहीं, उलटे एक आनंददायक अनुभव है। जिसने कभी कमल नहीं देखा उसे कमल की सुगंध एवं सौन्दर्य की सही कल्पना शब्दों के द्वारा देना सरल काम नहीं। ऐसा प्रयास कोई करे तो, सुनने वाले को वह क्लिष्ट ही लगेगा। किंतु कमल के सौन्दर्य का प्रत्यक्ष अवलोकन आनंदकर ही होगा। एकात्म मानव दर्शन की बात भी ऐसी है। मानव चेतना के उत्तम विकास या स्वाभाविक अनुभूति का ही नाम है— एकात्म मानव दर्शन [१९]। उस अनुभूति में परम सुख समाया है। इस दर्शन का शब्दरूप विवरण उपर्युक्त कारणों से क्लिष्ट प्रतीत होने की संभावना है। क्लिष्टता प्रकटीकरण में है, मूल विषय में नहीं। मूल विषय की प्रकृति प्रत्येक व्यक्ति को चिरतन सुख की अनुभूति देने वाली है और यह सुख ऐसे लोग भी अनुभव कर सकते हैं जिन्होंने इस दर्शन का नाम तक न सुना हो किंतु जिनकी चेतना का पर्याप्त विकास हो।

गैरी जुकोव कहते हैं:—

''जीवन में किसी अवस्था के वर्णन को ही वह स्थिति मान लेने की गलती सामान्यतः की जाती है। उदाहरण के लिए, सुख क्या होता है, इसका वर्णन करके देखिए। वह असंभव है... सुख और सुख का वर्णन दो भिन्न बातें हैं।

सुखी होना एक अवस्था है। इसका अर्थ है कि सुख प्रत्यक्ष अनुभूति के स्तर पर होता है। ऐसी भावना और संवेदना के स्तर पर, जिसका वर्णन किया ही नहीं जा सकता, सुख का अति निकट से अनुभव सुख की अवस्था में अंतर्भूत होता है। 'सुख' शब्द वर्णनातीत अवस्था पर चिपकाया हुआ एक 'लेबल' एवं प्रतीक है। 'सुख' अमूर्त या परिकल्पना की कक्षा में आने वाला तत्त्व है। विशिष्ट अवस्था एक अनुभव होता है। उस अवस्था का वर्णन एक प्रतीक मात्र रहता है। अनुभव और प्रतीक दोनों पर समान नियम लागू नहीं होते।''

सुख के बारे में यह जो कहा गया है वही 'एकात्म मानवदर्शन' पर भी लागू है।

इस दृष्टि से निम्न उदाहरण उद्बोधक है।

एकात्म मानव दर्शन पर इस ग्रंथ में विस्तृत विवेचन आया है। मनुष्य की चेतना का व्यक्ति से लेकर विश्व तक का विकास इस दर्शन का आधार है। अनेक लोगों के मन में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या ऐसे मानसिक विकास की प्रक्रिया स्वाभाविक तथा व्यवहार्य है? इस प्रक्रिया का स्वरूप क्या है? डा. जाकिर हुसैन ने पटियाला में गुरु गोविंदसिंह-भवन का शिलान्यास करते समय २७ दिसम्बर, १९६७ को अपने भाषण में इस प्रक्रिया का स्वरूप स्पष्ट किया था। वे कहते हैं—

''मेरे विचार में मनुष्य को 'घर' शब्द का ठीक से अर्थबोध हो जाये, तभी उसे मातृभूमि के साथ संबंधों के सच्चे महत्त्व का आकलन होता है। 'घर' कल्पना के अनेक अंगोपांग हैं। बालक की दृष्टि से माँ की प्रेममयी और सबकुछ देने वाली

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कोख ही 'घर' होता है। जैसे-जैसे वह बड़ा होता है, मातापिता की झोपड़ी या प्रासाद जो भी हो, उसकी दृष्टि में घर का प्रतीक बन जाता है। धीरे-धीरे उसमें बोध का विकास होता है, जिसके साथ संपूर्ण गली, या बस्ती या नगर को उसके मन में घर का आशय प्राप्त होता है। तब उस समूचे परिवेश के वृक्ष, वनस्पति, पक्षी, पहचान् के मुखड़े, पालतू प्राणी आदि जो भी आस-पास हैं वे उसकी विलोभनीय गृह-कल्पना की शोभा बन जाते हैं। इस प्रकार उच्चबोध व ज्ञान के क्षेत्र में जब वह प्रवेश करता है तो कितनी ही बातों का समावेश उसकी घर संबंधी दृष्टि में हो जाता है। उसमें घर की विविध दीवारें और देहलियाँ होती हैं। नाना प्रकार के ध्येय और स्वप्न मानो मूर्त रूप धारण कर लेते हैं। धार्मिक कथाएं, रूपक कथाएं, कला एवं साहित्य, इतिहास एवं संस्मरणीय घटनाओं की मालिका आदि अन्य भी बहुतेरी बातों की आकर्षक साजसज्जा उसमें अन्तर्भूत हो जाती है। संक्षेप में, अनेक अंगोंपांगों से वह वास्तु विकास करता ही जाता है और समूचे राष्ट्र को अपनी बाँहों में भर लेता है। उसे ऐसा लगने लगता है कि राष्ट्र के सारे निवासी अपने घर के ही आप्तजन हैं। सत्य और न्याय पर आधारित राष्ट्र के राजनीतिक ध्येय, उसका अनमोल सांस्कृतिक धन एवं परंपरा, इतिहास के आनंददायी एवं सुनहरे क्षण, सब 'घर' की दर्शनीय रचना के अविभाज्य भाग बन जाते हैं। प्रारंभ में केवल माँ की कोख में सीमित 'घर' अंत में केवल घर के चारों ओर के भौगोलिक परिवेश को ही नहीं, अपितु राष्ट्रीय जीवन के विशाल पट को भी अपने अंदर समाने योग्य विशाल बन जाता है। मनुष्य के घर की परिधि कितनी विशाल बन जाती है!"

इसी में अंतरराष्ट्रीय या मानवीय तथा वैश्विक, दो आयाम और जोड़ दें, तो पंडित जी को अभिप्रेत मानसिक विकास का स्वरूप ध्यान में आ जायेगा।

भारत के एक अन्य महान पुत्र के निम्न विचार देखिए। श्री विपिनचन्द्र पाल ने कहा है—

"राष्ट्रीयता विश्वमानवता से अलग नहीं की जा सकती।"

"स्वतंत्रता एवं स्वाधीनता के मूल्य और विशेषताएं 'स्व' शब्द के आशय की भव्यता में हैं। यह 'स्व' जहाँ व्यक्तिगत है, वहाँ वैश्विक भी है और वस्तुत: दोनों एक ही हैं... और मनुष्य के सच्चे स्वातंत्र्य की कक्षा, जितना वह वैश्विक 'स्व' के साथ अपनी एकता को अनुभव करेगा, उतनी ही मात्रा में विशाल होती जाती है।"

"सभ्यता की अंतिम अवस्था मनुष्य की परिपूर्णता है। केवल वैचारिक या भौतिक अर्थ में नहीं, अपितु नैतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से भी यह परिपूर्णता होनी चाहिए। मनुष्य को समाज के घटक एवं संपूर्ण समाज के एक अवयव के नाते प्राप्त होने वाली परिपूर्णता अधिक महत्त्व की है।"

"इस प्राचीन भूमि एवं यहाँ के जनसमाज का यूरोप, एशिया तथा अमरीका महाद्वीपों के आधुनिक राष्ट्रों में यह जीवनकार्य है कि आज की अंतरराष्ट्रीय स्पर्धा के स्थान पर अंतरराष्ट्रीय सहयोग का प्रवर्तन करें, किसी निष्पक्ष एवं अधिकारसंपन्न सर्वोच्च न्यायालय द्वारा राष्ट्रों के बीच शांतिपूर्ण विचार-विनिमय एवं सुयोग्य समझौतों को प्रेरणा दें और अंतरराष्ट्रीय झगड़ों तथा मतभेदों को विध्वंसक हथियारों के बल पर सुलझाने के लिए स्थान न रहने दें। इस प्रकार सारा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संसार एक राष्ट्र में बदल जाने का कवि द्वारा देखा गया स्वप्न साकार करने में वे सहायक बनें। सभी लोग एक दूसरे के साथ शांतिपूर्वक रह रहे हैं, सबके समान हितों के लिए सहयोग से काम कर रहे हैं और मनुष्य के अंदर के देवत्व की अभिव्यक्ति करने के लिए उपकारक हो रहे हैं, ऐसा युग प्रत्यक्ष में लाने के लिए अपना योगदान दें। भारतीय राष्ट्र का निर्माण करने वालों को यह बात सदैव आँखों के सामने रखनी चाहिए।"

"...हिन्दुत्व केवल एक संघीय (फेडरल) परिकल्पना नहीं है। वह उससे भी आगे गया है, इतना आगे कि भारत विश्व एकता का अर्थात जागतिक संघराज्य का ऐसा प्रतीक बन जाये जिसे कोई भी आकर देख सकता है।"

श्री पाल के विचारों की दिशा वही है। अन्तर इतना ही है कि पंडित जी का एकात्म मानव दर्शन इस दिशा में कुछ आगे बढ़ गया है और वह संपूर्ण अस्तित्व की एकात्मता का साक्षात्कार कराने का प्रयास करता है। अक्टूबर १९७४ में प्रकाशित अपने 'सोशियल एण्ड पोलिटिकल आइडियल्स ऑफ विपिनचन्द्र पाल' पुस्तक में श्री अमलेन्दु प्रसाद मुखर्जी कहते हैं कि "वास्तव में उनका धर्म और दर्शन 'इण्टीग्रल ह्यूमैनिज्म' (एकात्म मानववाद) था। श्री मुखर्जी उन्हें 'स्पिरिचुअल ह्यूमैनिस्ट' (आध्यात्मिक मानववादी) कहते हैं(यहाँ एक सूचना देना उचित होगा। एकात्म मानव के बारे में संपूर्ण विचार श्री राजाभाऊ नेने ने अपने खंड में प्रस्तुत किया ही है। उसमें 'मन' के प्रसंग में एक बात जोड़ देना आवश्यक है कि 'मन' के बारे में पाश्चात्यों की और हमारी कल्पना में अन्तर है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक ने अब तक मन की 'मूढ़' तथा 'क्षिप्त' अवस्थाओं का ही शास्त्रीय शोध किया है। उसके आगे तीन अवस्थाएं और होती हैं– 'विक्षिप्त', 'एकाग्र' तथा 'निरुद्ध'। इन अवस्थाओं तक वे लोग अभी तक नहीं पहुँचे हैं। इन पाँचों अवस्थाओं का शास्त्रीय अध्ययन हिन्दू मनोविज्ञान को अभिप्रेत है। उसी प्रकार बुद्धि का स्वरूप, कार्य एवं सीमाओं के बारे में भी हमारी पश्चिमी कल्पनाओं में पर्याप्त अंतर है। वही बात आत्मा और Soul पर भी लागू होती है।)।

पंडित जी द्वारा प्रतिपादित एक और परिकल्पना का स्पष्टीकरण करना उपयोगी होगा। वास्तव में वह विषय इस ग्रंथ में श्री बालासाहेब जोग ने भलीभांति रखा है। उनके विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'एकात्म शासनप्रणाली शब्दों का अनुवाद वस्तुतः 'Integrated form of Government' होना चाहिए था, किंतु तब तक यह अंग्रेजी शब्द प्रचलित नहीं था। अतः सामान्य नागरिकों की समझ में आने की दृष्टि से उसके लिए पहले से ही ज्ञात 'Unitary form of Government' शब्द प्रयुक्त किया गया है। उसके कुछ दुष्परिणाम भी दिखाई दिये। 'यूनिटरी फौर्म' शब्द की मानसिकता के साथ सदा जुड़ी परिकल्पना 'एकात्म शासन-प्रणाली' से भी चिपक गयी, जो स्वाभाविक ही था। इससे कुछ संभ्रम उत्पन्न हुआ। फिर भी अब यह सभी को ज्ञात हो चुका है कि पंडित जी को अभिप्रेत शब्द, 'Integrated' था– रूढ़ार्थ में 'Unitary' नहीं। दीनदयाल जी ने कालीकत अधिवेशन में अपने अध्यक्षीय भाषण में एक तत्सामयिक समस्या के नाते पश्चिमी जर्मनी की संमिश्र प्रणाली के ढंग पर कुछ निर्वाचन-सुधारों का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उल्लेख यद्यपि किया था, वह सुधार अस्थायी एवं प्रचलित पद्धतियों की चौखट में सहज बैठने वाला है– इसी भावना से प्रस्तावित किया गया था। उन्हें अभिप्रेत था संविधान में आमूल-चूल परिवर्तन।

भारत का संविधान विश्व में सबसे दीर्घ, सबसे बड़ा और सबसे विस्तृत लिखित संविधान है। अमरीका का संविधान उसमें किये गये संशोधनों सहित केवल २० पृष्ठों का है। सन् १९४६ के चौथे फ्रांसीसी गणराज्य का संविधान २५ पृष्ठों का है। सन् १९४७ का इतालवी गणराज्य का संविधान ३५ पृष्ठों का है। सन् १९४९ का संघीय गणराज्य जर्मनी का संविधान ४५ पृष्ठों का है। भारत के संविधान की मूल पृष्ठ-संख्या २५० से ऊपर है।

संविधान इतना लंबा-चौड़ा होने पर भी उसके स्वरूप के बारे में नक्सलवादी नागी रेड्डी से लेकर संविधान-विशेषज्ञ कोटेश्वर राव तक विभिन्न विचारवंतों ने विभिन्न कारणवश असंतोष व्यक्त किया है। विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि इन लोगों में डा. सच्चिदानंद सिन्हा, डा. राजेन्द्र प्रसाद एवं स्वयं श्री बाबासाहेब अम्बेडकर का समावेश है। चिंतामणि और मसानी ने तो एक छोर पर जाकर ऐसे तर्क दिये हैं कि यह संविधान– "A scheme which is a combination of drawbacks of different systems" (विभिन्न प्रणालियों की त्रुटियों का संयोजन) है।

पंडित दीनदयाल जी का संविधान के बारे में मुख्य आक्षेप यह था कि उसका स्वरूप भारतीय नहीं है। भारत की संस्कृति, परंपरा, मानसिकता, आज की आवश्यकताओं एवं भावी आंकाक्षाओं का इस संविधान में प्रतिबिंब नहीं है।

इसका अर्थ यह नहीं कि संविधान-निर्माताओं को भारतीय परंपरा एवं हिंदू विधि के बारे में कोई ज्ञान नहीं था। प्रत्युत्, साहित्य में मान्यता पा चुके वेद, वेदांग, उपनिषद् आदि में ग्रथित विधिनिषेध, मूल विधि-साहित्य, धर्म-सूत्र, स्मृति, मीमांसा, रूढ़ि, लोकाचार, सदाचार, रामायण-महाभारत, निबंध; कौटिलीय अर्थशास्त्र; शुक्रनीति;– सारांश यह कि श्रुति-स्मृति से लेकर मित्र मिश्र द्वारा प्रवर्तित 'वीर मित्रोदय' तक लगातार विकसित एवं परिवर्तित होते गये हिन्दू विधान को भलीभांति जानने वाले विद्वान संविधानसभा में थे। किंतु संविधान तैयार करते समय इस भारतीय विधि-साहित्य या विधिवेत्ताओं के ज्ञान का उपयोग नहीं किया गया। इस संपूर्ण परंपरागत साहित्य की ओर से हमारे संविधान-निर्माताओं ने मुँह फेर लिया था।

हमारा संविधान मुख्यतः १९३५ के 'भारत शासन अधिनियम' पर आधारित है। ब्रिटिश संसद द्वारा पारित यह शायद सबसे लम्बा विधान है। हमारे संविधान ने कुछ विषयों में यद्यपि इस विधान से भिन्न भूमिका [२०] ली है, फिर भी प्रमुखता से इसी विधान का आधार लेकर संविधान तैयार किया गया है। संविधान-विशेषज्ञ श्री बसु कहते हैं: "Three fourths are based on the Government of Indian Act of 1935." (तीन चौथाई भाग १९३५ के 'भारत शासन अधिनियम' पर आधारित है।)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संविधान बनाने वालों के मन में था कि ब्रिटिश पद्धति का संसदीय लोकतंत्र ही हमारे देश के लिए भी उपयुक्त है। "इसकी अनेक अवधारणाएं, जैसे– विधि का शासन, न्यायिक पुनरीक्षण और उत्तरदायी सरकार, ब्रिटिश अवधारणाएं हैं।" यह स्पष्ट है कि १९३५ का विधान अंग्रेजी साम्राज्य-सत्ता के लिए सुविधापूर्ण था।

संविधानकर्ताओं के सामने मुख्य आदर्श ब्रिटिश लोकतंत्र का था। फिर भी अन्य देशों के संविधानों से प्रत्यक्ष या परोक्ष कुछ बातें उधार ली गयी हैं। अधिक विस्तार में न जाते हुए स्थूल रूप से विचार करें तो निम्न बातें ध्यान में आती हैं। भारतीय संविधान में 'शासकीय नीति के निर्देशक सिद्धांत' शीर्षक एक अध्याय है जो आयरलैंड के संविधान तथा जनरल फ्रैंकों से पूर्व के स्पेन के संविधान की ऐसी ही व्यवस्थाओं पर आधारित है। 'मूलभूत अधिकार' की संकल्पना अमरीका एवं आयरलैंड के संविधान में दी गयी तत्सम व्यवस्थाओं पर आधारित है। चौथे फ्रांसीसी गणराज्य के संविधान की प्रस्तावना में भी इस प्रकार की घोषणा है। इटालियन गणराज्य के संविधान के प्रथम भाग में नागरिकों के अधिकारों एवं कर्तव्यों के बारे में घोषणा की गयी है। सन १९४९ के संघीय गणराज्य जर्मनी के संविधान में भी मूल अधिकारों की सूची दी गयी है। भारत के अंतरराष्ट्रीय संबंधों में नीतियों से संबंधित निर्देशक सिद्धांत का धारा ५१ में दिग्दर्शन किया गया है। चौथे फ्रांसीसी गणराज्य के संविधान की प्रस्तावना, इटालियन गणराज्य के संविधान की धारा ११ तथा संघीय गणराज्य जर्मनी के संविधान में लगभग ऐसा ही प्रावधान पाया जाता है।

सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न भारत के संविधान के स्वरूप के बारे में है। यह स्वरूप संघीय (फेडरल) हो, ऐसा विचार-प्रवाह प्रारंभ में ही चल पड़ा था। संविधान का स्वरूप परंपरागत अर्थ में ऐकिक (यूनिटरी) रखा जाये तो निरंकुशतंत्रीय प्रवृत्ति का आरोप अपने पर आने का भय राष्ट्रीय नेताओं के मन में था। प.पू. श्री गुरुजी ने संघीय स्वरूप के कारण उत्पन्न होने वाले खतरों के बारे में पूर्वसूचना दी थी, यह बात अनेक लोगों के ध्यान में होगी। स्पष्ट है कि संविधान-निर्माताओं की मनःस्थिति द्विविधापूर्ण थी। असंदिग्ध रूप में ऐकिक स्वरूप स्वीकार करने की मन की तैयारी नहीं और संघीय स्वरूप से होने वाले दुष्परिणाम सम्मुख; ऐसी द्विविधा में लोग फँसे थे। अतः उन्होंने अमरीका का संघीय स्वरूप नहीं स्वीकारा, बल्कि उस प्रसंग में कनाडा के संविधान का अनुकरण किया। संविधान के शिल्पियों ने जानबूझकर 'UNION' संज्ञा को प्रयुक्त किया। उन्होंने 'फेडरल' संज्ञा का प्रयोग नहीं किया। इस बारे में कनाडा के संविधान का हमारे संविधानकारों के मन पर विशेष प्रभाव था। कनाडा संघ-राज्य था, किंतु उसे सशक्त केंद्र की आवश्यकता थी। अमरीकी गृहयुद्ध ने उसे अच्छा पाठ सिखाया था। अतः संघात्मक रचना रखते हुए भी केंद्र को शक्तिशाली रखना उसके लिए अपरिहार्य हो गया था। भारत के इतिहास से निकलने वाला निष्कर्ष भी कुछ इसी स्वरूप का था। किंतु इस द्विविधा से निर्मित हुई रचना 'इदं च नास्ति–परं न लभ्यते' जैसी हो गयी। 'ऐकिक तथा संघीय' दोनों रचनाओं से होने वाली हानि हमारे पल्ले पड़ी और दोनों रचनाओं के लाभों से हम वंचित रह गये।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस संदर्भ में प्राध्यापक बनर्जी कहते हैं, "भारत के संविधान का स्वरूप यद्यपि संघात्मक है, उसका स्पष्ट झुकाव एकात्मता की ओर है।"

प्रो० के०सी० व्हीयर ने कहा है, "इस (संविधान) ने वस्तुतः एक ऐसी शासनप्रणाली स्थापित की है जो अंशतः संघात्मक तथा अधिकतर (संसद द्वारा) नियत संस्थाओं को कार्य सौंप देने के स्वरूप की है। वह एकात्मक राज्य है जिसमें संघात्मक उपांग जोड़ दिया गया है। एकात्मता का उपांग जुड़ा हुआ संघात्मक राज्य इसे नहीं कहा जा सकता।"

संविधान-निर्माताओं की इस भ्रमित मनोदशा* से निर्मित संविधान का स्वरूप 'न इधर के रहे और न उधर के रहे' जैसा है। अतः आज बढ़ते जा रहे केंद्र-राज्य-विवादों को स्थान मिला। भारत की परंपरा, इतिहास, सांस्कृतिक एकात्मता आदि सबंकी पृष्ठभूमि में संविधान का विचार किया जाता तो यह अप्राकृतिक विवाद उत्पन्न न हुआ होता, विभेदकारी प्रवृत्तियों को बल न मिला होता, राष्ट्रीय एकात्मता में विविध बाजुओं से दरारें न पड़ी होतीं, संविधान का स्वरूप विशुद्ध भारतीय रहने पर सामान्य भारतीय मानस को उसमें से अतीत का यथार्थ अभिमान एवं भविष्य के प्रति उज्ज्वल आकांक्षा का साक्षात्कार हुआ होता और जनता की शक्ति आपस के झगड़ों में नष्ट न होकर राष्ट्र के पुनर्निर्माण के कार्य के लिए उसका रचनात्मक उपयोग होता। यह उद्देश्य सामने रखकर दीनदयाल जी ने भारतीय प्रकृति के अनुसार 'एकात्म शासन प्रणाली' की कल्पना का सूत्रपात किया। आज केंद्र-राज्य विवाद उग्र रूप धारण कर रहे हैं, किंतु प्रचलित संविधान की परिधि में रहकर समय-समय पर सामयिक, तात्कालिक राजनीतिक समझौते करते हुए किसी प्रकार से बात को बना ले जाना उसका स्थायी उपाय नहीं है। दीनदयाल जी द्वारा प्रतिपादित 'एकात्म शासन प्रणाली' के विवरण को विकसित करते हुए उसे व्यवहार में लाना ही इस समस्या का स्थायी एवं प्रभावकारी उत्तर है। श्री बालासाहेब जोग ने अबतक विकसित इस कल्पना का स्वरूप अपने खंड में विस्तारपूर्वक दिया ही है।

११.

पंडित जी के विचार एक दृष्टि से दो भागों में बाँटे जा सकते हैं। कुछ तत्कालीन तथा अन्य सर्वकालीन महत्त्व के। सर्वकालीन विचारों की सत्यता परिस्थितिनिरपेक्ष हुआ करती है। फिर भी उनके मर्म का पूरा-पूरा आकलन तब तक नहीं किया जा सकता, जब तक यह न ज्ञात हो कि वे किस परिस्थिति में प्रस्तुत किये गये थे। पंडित जी केवल पोथीपढ़े विद्वान नहीं थे। वे सार्वजनिक जीवन में

---

* पं. जवाहरलाल नेहरू ने कहा था—
"आज संसार में खलबली मची है और हम लोग एक तीव्र परिवर्तन के युग से गुजर रहे हैं। आज हम जो कुछ भी करेंगे, वह ज्यों का त्यों कल संपूर्ण रीति से लागू होगा ही, ऐसा नहीं कहा जा सकता।"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अत्यंत सक्रिय थे। क्रियाशील व्यक्तियों के विचार सर्वकालीन महत्त्व के होते हैं। फिर भी कई बार ऐसे विचारों की अभिव्यक्ति किसी न किसी घटना, समस्या अथवा परिस्थिति की प्रतिक्रिया के रूप में हुई होती है। विचारों की अभिव्यक्ति के लिए कोई न कोई तत्काल-निमित्त मिल जाता है। उस निमित्त, घटना, समस्या अथवा परिस्थिति की पूर्ण जानकारी न हो, तो उस विचार की सच्ची महानता एवं विचारक की सच्ची ऊँचाई ध्यान में नहीं आ पाती। विचार का महत्त्व सर्वकालीन हो अथवा तत्कालीन, उसकी परिस्थितिजन्य पृष्ठभूमि का ज्ञान अपने में ही महत्त्वपूर्ण होता है। कोपरनिकस का सिद्धांत अब सर्वमान्य हो गया है। किंतु जब कोपरनिकस ने वह सत्यदर्शन किया, उस समय समूचे यूरोप तथा ईसाई समाज में कौन सी धारणाएं दृढ़ मूल थीं, कौन सी मान्यताएं प्रचलित थीं तथा उस मत के पीछे खड़ी पोप की सत्ता कितनी प्रबल थी, इसकी जानकारी जिसे न हो, उसे कोपरनिकस की वैचारिक ऊंचाइयों का आकलन हो ही नहीं सकेगा। आयरलैंड के टेरेन्स मैक्स्विनी के विचार किसी भी ध्येयवादी मानस को उत्कट प्रेरणा देने वाले हैं। किंतु साम्राज्यवाद के विरुद्ध छेड़े गये संघर्ष की किस अवस्था में वे विचार उत्स्फूर्त से प्रकट हुए, इसे जाने लें तो उनका स्वरूप अधिक ज्वालाग्राही प्रतीत होगा। तर्कशास्त्र के बारे में अरिस्टाटल, जनतंत्र के बारे में लिंकन, राष्ट्रीयता के बारे में मेजिनी अथवा मानव के मूलभूत अधिकारों के बारे में जैफरसन के विचार सर्वकालीन महत्त्व के हैं। किंतु इसका ज्ञान हो कि किन विशिष्ट परिस्थितियों में वे आग्रहपूर्वक रखे गये थे, तभी उन विचारों का सच्चा रहस्य तथा विचारकों की सच्ची श्रेष्ठता मन पर अंकित हो सकती है। पैथागोरस, यूक्लिड, देकार्त, पास्कल, रूसो, वाल्टेयर, मार्क्स आदि लोगों के विचारों के बारे में भी यही कहा जा सकता है। विचारों का तो महत्त्व है ही, किंतु परिस्थिति की पृष्ठभूमि के कारण उनका मूल्य अधिक बढ़ जाता है। हीरे का मूल्य तो होता ही है, किंतु उसे अनुरूप गर्त में बिठाया जाये तो उसका तेज एवं सौंदर्य और भी अधिक प्रतीत होता है। परिस्थिति के गर्त के बिना विचारों एवं विचारकों की सच्ची योग्यता प्रकट नहीं हो सकती।

इस ग्रंथ के आगामी छहों भाग पंडित जी के विचारों से ओत-प्रोत हैं और प्रसंगानुसार एक-एक परिस्थिति का विवरण भी उनमें दिया गया है। किंतु इसमें ग्रथित समग्र विचार को इस शताब्दी के पांचवे दशक के प्रारंभ में परिस्थिति का जो गर्त मिला था, वह साकल्य से पाठकों के मानस-चक्षुओं के सम्मुख न हो तो विषयप्रवेश करते समय विचारों एवं विचारक की वास्तविक योग्यता उनकी समझ में नहीं आ सकेगी। उस दृष्टि से विषयप्रवेश करने से पूर्व तत्कालीन परिस्थिति का सर्वंकष चित्र प्रस्तुत करना आवश्यक प्रतीत होता है।

१२.

अधिकांश भूतपूर्व उपनिवेशी देशों को दूसरे विश्वयुद्ध के बाद अंतरराष्ट्रीय परिस्थिति के दबाव के कारण स्वतंत्रता दी गयी। यह स्वतंत्रता क्रांति या अन्य किसी संघर्ष के तत्काल फलस्वरूप प्राप्त नहीं हुई थी। उससे पूर्व के काल में विभिन्न देशों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में कई प्रकार के प्रयत्न या आंदोलन अवश्य हुए थे, फिर भी प्रत्यक्ष स्वतंत्रता देने के समय अंतरराष्ट्रीय परिस्थिति ही उसका प्रमुख कारण बन गयी थी। भारत स्वयं भी ऐसे देशों में एक था। यहाँ भी आंदोलन अवश्य हुए। किंतु जैसा कि जवाहरलाल नेहरू ने आगे चलकर माना, सन १९४७ में कांग्रेस के नेता इतने थक चुके थे कि देश का विभाजन स्वीकार न करने पर आगे चलकर जो संघर्ष फिर उसे करना पड़ता, उसके लिए उनकी मानसिक तैयारी नहीं थी। प्रत्यक्ष सत्ता का हस्तांतरण ब्रिटिश संसद द्वारा 'इंडियन इंडिपेण्डेन्स एक्ट' के अनुसार हुआ। ऐसी ही अवस्था न्यूनाधिक मात्रा में नव स्वतंत्र अन्य उपनिवेशों की भी थी। परिणाम यह हुआ कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भी पश्चिमी सभ्यता का प्रभुत्व इन देशों के मानस पर अंकित रह गया। उनके नेताओं के मन में एक प्रकार से हीनता की भावना थी। यह बात उनके मन में बैठ गयी थी कि प्रगति अथवा विकास का विश्व में एक ही नमूना है और पश्चिमी ढंग की प्रगति ही प्रगति का एकमेव प्रकार है। फ्रैंज फैनोंन ने तृतीय विश्व के लोगों को 'पृथ्वी के नारकीय जीव' (The Damned of the Earth) संज्ञा दी थी। इस स्थिति के कारण क्रोध या चिढ़ उत्पन्न होने के स्थान पर विवशता की भावना बढ़ गयी। उन्हीं के कारण उनका शोषण कर साम्राज्यवादी देश आज तक अपने वैभव का अम्बार खड़ा करते थे, इस सत्य को इन नेताओं ने भुला दिया और उनके मन में असहायता की एक ऐसी भावना उत्पन्न हो गयी कि अपने पुराने स्वामियों अर्थात गोरे राष्ट्रों की सहायता के बिना हम लोग एक पग भी आगे नहीं चल सकेंगे। वस्तुत: स्वतंत्रता देने के बाद भूतपूर्व साम्राज्यवादी उत्तरी राष्ट्रों की अवस्था बहुत ही विचित्र हो गयी। उनका आज तक का वैभव उनके अपने साधन-स्रोतों के बल पर खड़ा नहीं था। कच्चे माल की सस्ती आपूर्ति के लिए अपने बंधुआ उपनिवेशों का उपयोग करना, वहां से लाया कच्चा माल अपने देश में पक्का बनाना और अधिक दामों पर उसको बेचने के लिए मुख्य बाजार के नाते फिर से उन्हीं उपनिवेशों का उपयोग करना, ऐसे शोषणचक्र से उनका वैभव निर्मित हुआ था। परिस्थिति के दबाव के कारण राजनीतिक स्वतंत्रता भले ही प्रदान करनी पड़ी हो, अपने आर्थिक साम्राज्य के प्रकोष्ठ ('पाकेट') नव स्वतंत्र दक्षिणी देशों में निर्मित न कर सके तो अपना आर्थिक ढाँचा चरमराने से बचाना भी दुष्कर हो जायेगा, इसका स्पष्ट बोध साम्राज्यवादी उत्तरी राष्ट्रों में जागने लगा था। तदनुसार दक्षिणी देशों में आर्थिक साम्राज्य के प्रकोष्ठ निर्मित करने के लिए भाँति-भाँति की जुगतें लड़ाना, आर्थिक संस्थाओं का निर्माण करना और विदेशों से सहायता-सन्धियां करवाना आदि कार्य उन्होंने प्रारंभ किये थे। दक्षिणी देशों में जनता को इस वस्तुस्थिति का स्पष्ट बोध होता तो उत्तरी देशों के इन दाँवपेंचों का सफल होना कठिन था। अत: उन्हें यह प्रतीत होने लगा कि जिस प्रकार पहले अपनी साम्राज्य-सत्ता को बनाये रखने के लिए उपनिवेश के लोगों के मन में सांस्कृतिक भय की भावना निर्मित करना आवश्यक था, उसी प्रकार अब भी विदेशियों का आर्थिक साम्राज्य उनके गले उतारने के लिए उसी प्रकार का कुछ सांस्कृतिक भय फिर से उत्पन्न करना आवश्यक है। उसी प्रयास में उन्हें सफलता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भी मिली। कारण, एक तो, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, स्वतन्त्रता -प्राप्ति तात्कालिक संघर्ष के कारण नहीं हुई थी। दूसरे, लगभग ऐसे प्रत्येक देश में सत्ता का दान ऐसे ही लोगों के हाथ पर छोड़ा गया था, जो पहले से पश्चिमी सभ्यता के भगत बन बैठे थे और स्वदेशी संस्कृति से टूट चुके थे [२१]। इसके अतिरिक्त स्वराज्य का अनुभव न होने के कारण उपस्थित प्रश्नों की गंभीरता उन्हें वास्तविक से अधिक प्रतीत होने लगी थी। भय के कारण ये लोग भुला बैठे थे कि विकास के विविध पक्ष, विविध आयाम एवं मितियाँ होती हैं। समस्याएं तो अवश्य थीं। प्रचण्ड बेकारी, आवश्यक वस्तुओं का अभाव, अत्यधिक बढ़ती जा रही मुद्रास्फीति, दरिद्रता, अल्पायु, मृत्यु-संख्या तथा उससे भी बढ़ कर जनसंख्या में वृद्धि, निरक्षरता, स्वास्थ्य एवं स्वच्छता के सामान्य नियमों का अज्ञान, संक्रामक रोग, महामारी, अतिवृष्टि, अकाल, घटिया एवं घुन लगी फसलें, पिछड़ी हुई तथा देश-स्थिति के साथ बेमेल प्रौद्योगिकी (तंत्रविद्या), सामंतवादी संबंध, वंश एवं सम्प्रदाय, भाषा, प्रदेश, आदि पर आधारित विघटनकारी प्रवृत्तियां, पुरानी भोली रुढ़ियों का जन-मानस पर प्रभाव, बार-बार होने वाली स्थानीय लड़ाइयाँ, सैनिक क्रांतियाँ, राजनीतिक उथल-पुथल, ये सब उपनिवेशी देशों की महत्त्वपूर्ण समस्याएं थीं। ऐसी परिस्थिति का सामना करने की बारी स्वराज्यपूर्व काल में न आने के कारण नये सत्ताधारियों को उनका बहुत ही भय लगने लगा।

किंतु ऐसी अवस्था में भी निराशा एवं हीन भावना का कोई औचित्य नहीं है, ऐसा आत्मविश्वासपूर्वक आह्वान करने वाले महात्मा गांधी, श्रीगुरुजी अथवा दीनदयाल जी जैसे नेता भारत में थे ही। (एशियाई नवजागरण का नेतृत्व करने वाले नेताओं का कालगणना के अनुसार क्रम इस प्रकार माना जाता है– राजा राममोहन राय, मेइजी मिकैडो, सुत्सुहिटो, सैयद जमालुद्दीन (ईरान), डा० सन् यत् सेन (चीन), व मुस्तफा कमाल पाशा (तुर्कस्थान)। अफ्रीका में यह सम्मान का स्थान मिस्र के जगलुल पाशा को दिया जाता था। ये सब महापुरुष पश्चिमी भौतिक परिस्थिति से प्रभावित थे। फिर भी उनके मन में अपनी राष्ट्रीय संस्कृति की जड़ें गहरी जमी हुई थीं।) समस्याएं जैसे निर्धनता से उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार धनाढ्यता अथवा धनवानों के प्रदर्शन से भी होती हैं। पश्चिमी पद्धति के तांत्रिक विकास से स्वचालित यंत्रों और संगणकों के कारण बेकारी बहुत बढ़ जाती है। लगभग ५० वर्ष पूर्व अर्थशास्त्री कीन्स ने जिसे 'परिपूर्णता का संकट' बताया था, उसका सामना करना पड़ता है। ऐसे संकट का पृथक्करण अलग-अलग प्रकार से होता है। आर्थिक अवरोध, गतिरोध एवं मूल्य-वृद्धि, मंदी, यातायात में बाधाएं तथा दुर्घटनाएं, शीघ्रता चिंता एवं मानसिक तनाव और उससे उत्पन्न होने वाले 'न्यूरेस्थेनिया', रक्तचाप, हृदय-रोग, 'शिजोफ्रेनिया', असुरक्षित एवं अकेलेपन की भावना, भय की भावना, बाल अपराध, उदास होना, विफलता का भाव, परात्मभाव, व्यक्तित्व का विघटन, आत्महत्या की ओर ले जाने वाली मानसिक विकृति, अपराधी एवं हिंसाचार की प्रवृत्ति, लैंगिक अविवेक एवं विकृति, मद्यवश्यता (नशे की लत), काम पर न जाने की प्रवृत्ति, ध्वस्त पारिवारिक जीवन तथा प्रायः सामाजिक तनाव, सब पश्चिमी संस्कृति के रोग हैं। पश्चिमी प्रणाली के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अनुसार तंत्र-विद्या (टेक्नालाजी) की प्रगति हो जाये तो एक ऐसा नया प्रश्न उनके सामने पैदा होने वाला है जिसका सामना करने के लिए आवश्यक सांस्कृतिक स्तर पश्चिम को अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। यह प्रश्न है अवकाश का। आज की पश्चिम की वस्तुनिष्ठ भौतिकताप्रधान वृत्ति एवं विपुल अवकाश से मानव को पतन की ओर ले जाने वाला भस्मासुर न जन्मा तो वह एक आश्चर्य ही होगा। सांस्कृतिक स्तर ऊँचा हो तो अवकाश ईश्वरीय वरदान बन जाता है। पतंजलि ने कहा है, "निर्विचार वैशारद्येऽध्यात्मप्रसाद:"। किंतु सांस्कृतिक स्तर ऊँचा न हो तो 'खाली मन भूत का डेरा' जैसी अवस्था हो जायेगी। तांत्रिक प्रगति के शिकार होकर प्रकृति के वैभव का दुरुपयोग करने एवं संतुलन बिगाड़ने का उपक्रम और उससे उत्पन्न होने वाले प्रदूषण की समस्या आज पश्चिमी के सभी-स्वप्नों को भंग कर रहे हैं। नवस्वतंत्र भारत के पश्चिमी प्रभाव में आये नेताओं में इन सभी बातों का शांतिपूर्वक अनुमान लगाने की क्षमता नहीं थी, अत: पश्चिम की भौतिक प्रगति की चकाचौंध से उनकी आँखें चौंधिया गयीं। उस अवस्था में दीनदयाल जी आने वाली घटनाओं का सही अनुमान लगाकर तत्कालीन परिस्थिति से किंचित् भी विचलित न होते हुए देश और युग के अनुकूल रहने वाली नीतियों का विचार कर सके, यही उनकी क्रांतिदर्शिता है। आज तीन दशकों के बाद पश्चिम की विविध समस्याओं के भीषण आयाम हम लोगों के भी ध्यान में आ रहे हैं। हिंसाचार तथा अपराधों में वृद्धि, हिप्पी, बीटनिक्स आदि नये पंथों का उदय, उपभोक्ता समाज अथवा समाज-रचना के विरुद्ध विश्वविद्यालय के छात्रों एवं श्रमिकों का विद्रोह, फालतू वस्तुओं के बढ़ते जाने वाले भण्डार निरंतर बढ़ते जाने वाले उपनगर, धुआँ और कोहरा, पर्यावरण का प्रदूषण, विभिन्न औद्योगिक रोग, आदि नगरीकरण एवं उससे उत्पन्न होने वाले व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन के प्रश्न, सब पाँच दशक पूर्व प्रचाइड ने जिसे 'सभ्यता का रोग' कहा था, उसी के लक्षण हैं। अवकाश के प्रश्नों की भीषणता भी डेनियल बेल द्वारा लिखित 'पोस्ट इण्डस्ट्रियल सोसाइटी' से हमारे ध्यान में आ सकती है। किंतु स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद के काल में हो सकने वाली ऐसी सभी घटनाओं का अचूक अनुमान लगाकर स्थित चित्त से अपनी भारतीय संस्कृति पर श्रद्धा रखना और उसी के मार्ग से भारत का पुनरुत्थान होगा, ऐसा आश्वासन अपने देशवासियों को दृढ़तापूर्वक देना अलौकिक व्यक्तित्व का ही लक्षण है।

विचारों की दृढ़ता और उन्हें प्रकट करने का साहस प्रौद्योगिकी (टेक्नालाजी) के क्षेत्र में भी पंडित जी की विशेषताएं थीं। १९५४ में मेरे महाराष्ट्र के प्रवास में एक स्थान पर विचारवंतों की बैठक में पंडित जी के प्रौद्योगिकी विषयक दृष्टिकोण के बारे में मुझसे प्रश्न किया गया था और मेरा उत्तर सुनकर प्रश्नकर्त्ता ने यह निष्कर्ष निकाला था कि इस विषय पर पंडित जी के विचार पुराणपंथी एवं कालबाह्य हैं। तब तक महात्मा गांधी के विचारों के बारे में प्रचलित भ्रान्तियां दूर नहीं हुई थीं। उसी प्रकार डा. शूमाकर के बुद्धिस्ट अर्थशास्त्र 'लघु सुन्दर है' ('Small is beautiful') तथा मध्यवर्ती अथवा उपयुक्त प्रौद्योगिकी पर विचार प्रकाशित नहीं हुए थे। उस पर हमारे प्रश्नकर्ता की क्या प्रतिक्रिया हुई थी, पता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नहीं। अब तो क्लाड अल्वारिस के 'होमो फेबर' ने ऐसे विचारकों को धक्का दिया है। भारत, चीन और पश्चिम की सन १५०० से लेकर आज तक की प्रौद्योगिकी और संस्कृति उनके ग्रंथ का विषय है। उसमें किये गये प्रतिपादन का मर्म श्री रजनी कोठारी ने अपनी प्रस्तावना में निम्न शब्दों में समझाया है:

"इस ग्रंथ ने पश्चिम के इस दावे को अस्वीकार करने की आवश्यकता को उजागर कर दिया है कि उसका ज्ञान सारे विश्व पर लागू होने योग्य है और इस बात की आवश्यकता को भी कि पश्चिम के अतिरिक्त जो अन्य देश हैं, वे अपनी समस्याओं के समाधान अपने में ही खोजने का प्रयत्न करें। इस प्रक्रिया में औद्योगिक-सांस्कृतिक प्रणालियों को बहुरंगी स्वरूप देने की ही नहीं, अपितु ऐसे बहुरंगी स्वरूप से नयी समस्याओं की उस फसल का समाधान खोजने के लिए सहायक होने की आवश्यकता भी प्रतिपादित की गयी है जिसका सामना पश्चिम के लोगों को आज करना पड़ रहा है। एक विशिष्ट तंत्र-संस्कृति के विश्वव्यापी प्रसार एवं क्रमागत तंत्रज्ञान के एक ही नमूने से विविध सांस्कृतिक एवं तांत्रिक प्रणालियों की ओर ले जानेवाला यह संक्रमण करवाना राजनीतिक दृष्टि से सरल नहीं है। बौद्धिक एवं नैतिक दृष्टि से वह कितना भी उपयुक्त क्यों न लगता हो, वह संक्रमण होगा कठिन ही। ग्रंथ-लेखक इस बात से भली भांति अवगत हैं।"

पंडित जी को भी इन कठिनाइयों का बोध था। फिर भी अपनी विचारधारा के साथ आगे चलकर क्या-क्या क्षुद्र विशेषण लगाये जायेंगे, इसकी चिंता न करते हुए उन्होंने अपने सुविचारित मत प्रस्तुत किये।

तीन दशक पूर्व प्रगतिशील लोगों में यह मानने की प्रवृत्ति थी कि पश्चिमी तंत्रविद्या की निरंकुश प्रगति ही मानव जाति की अनियंत्रित भौतिक प्रगति है। मानव-प्रगति का समग्रता से विचार करना पुराणपंथी माना जाता था। अब धीरे-धीरे यह प्रवृत्ति बदल रही है। हाल ही में प्रकाशित अपने भाषण का समारोप करते समय डा. वि.म. दांडेकर ने जो कहा था, इस दृष्टि से भी दिशा-सूचक है—

"थोड़ी देर के लिए परात्मभाव के निराकरण को हम आत्मविकास कह भी लें, फिर भी यह आत्मविकास और आध्यात्मिक विकास एक नहीं है। आधिभौतिक विकास के बिना आध्यात्मिक विकास तो संभव है, किंतु आत्मविकास संभव नहीं। ऐसी अवस्था में, जिसमें सारा परिश्रम केवल जीने के लिए करना पड़े, मानव का आत्मविकास संभव नहीं। उसके लिए प्रकृति पर विजय प्राप्त कर न्यूनतम आधिभौतिक विकास साध्य करने की आवश्यकता है। किंतु मार्क्स ने कहा है— जिस मात्रा में मानव प्रकृति पर विजय प्राप्त करता है, उतनी मात्रा में वह अपने अंदर छिपी मानवता का दास हो जाता है। कम से कम आज तक के विज्ञान और प्रौद्योगिकी (तंत्रविद्या) के कारण ऐसा ही हुआ दिखाई देता है। अतः आगे चलकर मानव की भौतिक उत्पादनशक्ति को निरंतर असीमित मात्रा में बढ़ाते जाना विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का उद्देश्य नहीं होना चाहिए। मानव के अंदर की मानवता को नष्ट न होने देते हुए मानव के आत्मविकास के लिए आवश्यक उतना आधिभौतिक विकास कैसे साध्य करें, यही अब विज्ञान और प्रौद्योगिकी के सम्मुख चुनौती है।"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पंडित दीनदयाल जी के राष्ट्रीय जीवन के प्रारंभिक काल में इस प्रकार की संतुलित दृष्टि का प्रगतिशील लोगों में अभाव ही था।

(संयोग की बात है कि विश्व के कुछ प्रमुख बुद्धिजीवी वैज्ञानिकों, शिक्षाशास्त्रियों तथा अर्थशास्त्रियों के 'क्लब ऑफ रोम' द्वारा सन १९६८ में प्रकाशित निवेदन में प्रौद्योगिकी के विषय में पंडित जी के मतों के अनुकूल सिद्ध होने वाला अभिप्राय ही व्यक्त किया है।)

पश्चिमी तंत्रविद्या के बारे में पंडित जी द्वारा प्रकट अभिप्राय को पोथीनिष्ठ एवं पुराणपंथी कहने के लिए हमारे सस्ते प्रगतिशील मित्रों को अवसर मिलने का एक और कारण है। पर्यावरण-शास्त्र विषयक चर्चा हमारे देश में उन दिनों प्रारंभ भी नहीं हुई थी। सन १९५६ में दिल्ली में पीलिया की महामारी आ गयी थी। उसके बाद इस शास्त्र की ओर हमारे विद्वानों एवं राज्यकर्ताओं का ध्यान गया। पिछली सदी के सातवें दशक में टेम्स के पानी के प्रदूषण के कारण इंग्लैंड में महामारी के रोग फैले थे। इंग्लैंड की सरकार ने तुरंत 'रायल कमीशन ऑफ स्यूएज डिस्पोजल' की नियुक्ति की थी। उसके बाद श्री विडल टेलर, श्री थ्रैश, श्री बिल एवं श्री सक्लिग जैसे शास्त्रज्ञों ने विज्ञान की इस नयी शाखा का सूत्रपात किया। १९५६ में दिल्ली में फैली पीलिया की महामारी का भी परिणाम हुआ और बंबई महानगर पालिका के नगर अभियन्ता श्री एन.वी. मोडक ने पर्यावरण-प्रदूषण की समस्याओं के बारे में सरकार एवं जनता की उदासीनता को पहला धक्का दिया। नागपुर के 'नेशनल एन्वायरन्मेण्टल एंजिननियरिंग रिसर्च इन्स्टीट्यूट' ('नारी') के श्री मोडक संस्थापक निदेशक हो गये और अब श्री आर.एस. मेहता, प्रा. एस.जे. आरसीवाला, प्रा. एन. मजूमदार तथा डा. बी.बी. सुंदरेशन के मार्गदर्शन में इस विज्ञान ने भारत में भी प्रशंसनीय प्रगति की है। पंडित जी की खिल्ली उड़ाने वाले 'प्रगतिशील' (?) लोगों का उथलापन 'नारी' के शोध के कारण स्पष्ट हो गया। किंतु यह सब प्रगति बाद के समय की है। पंडित जी ने प्रचलित जनमत की परवाह किये बिना जब पश्चिम की तंत्रविद्या के बारे में निर्भयतापूर्वक अपना मत प्रकट किया, उस समय परिस्थिति अब से बिल्कुल भिन्न थी। (इस शास्त्र की प्रगति की दृष्टि से आज जापान का क्रमांक पहला, अमरीका का दूसरा तथा यूरोप का तीसरा है। भारत ने पर्यावरण अभियान्त्रिकी (एन्वायरन्मेण्टल एंजिनियरिंग) के क्षेत्र में देरी से पदार्पण किया। फिर भी धीरे-धीरे, किंतु निश्चित रूप से, इस शास्त्र में भारत आगे बढ़ता जा रहा है और इस शास्त्र की दृष्टि से दक्षिण-पूर्व एशिया में सबसे प्रगत राष्ट्र का स्थान आज उसने प्राप्त कर लिया है।)

१३.

भारतीयों के मन में सांस्कृतिक हीनता की भावना निर्मित करने की दृष्टि से पश्चिमी देशों ने कुछ कपोल काल्पनिक सिद्धांत खोज निकाले और हमारे शिक्षित लोगों ने आंखें मूंदकर उनको स्वीकार कर लिया। हमारे स्वत्व से हमें विमुख करने का पश्चिमी लोगों का उद्देश्य लगभग सफल होता जा रहा था। सन १९४७ के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बाद भी यह बौद्धिक दासता नष्ट नहीं हुई थी। 'साहेब वाक्यं प्रमाणम्' का सिलसिला पढ़े-लिखे लोगों का रहा है। साहेब लोगों द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत के विरुद्ध बोलना प्रतिगामिता का लक्षण माना जाने लगा है। ऐसी स्थिति में और प्रतिगामिता का दोष स्वीकार करते हुए भी जिन्होंने स्थिर बुद्धि से पश्चिमी सिद्धांत के झूठेपन का भंडाफोड़ किया, ऐसे ही कुछ चुनींदा लोगों में दीनदयाल जी की गणना करनी होगी। आज इसकी कल्पना नहीं की जा सकती कि ऐसा साहस करना उन दिनों कितने साहस का था। किंतु बृहत् राष्ट्रहित को सम्मुख रखकर पंडितजी ने यह किया और पश्चिमी देशों के सिद्धांतों की कलई खोल दी। नमूने के लिए केवल एक सिद्धांत का उदारहण लें:

अंग्रेज़ों ने एक सिद्धांत यहाँ प्रचलित किया था कि केवल हम अंग्रेज ही यहाँ पर आक्रामक बनकर आये हुए नहीं हैं, अपितु हिंदू भी यहाँ के मूल निवासी नहीं थे। वे भी हमारी भांति विदेशी आक्रामक ही हैं, अन्तर केवल इतना है कि हमारा आक्रमण आधुनिक काल का है और हिंदुओं का ऐतिहासिक काल का। किंतु सैद्धांतिक दृष्टि से हम और हिंदू दोनों ही इस भूमि के लिए समान रूप से पराये हैं, और इस भूमि के सच्चे आदिवासी पुत्र बेचारे विभिन्न आक्रांताओं द्वारा कुचले गये हैं, पीसे गये हैं। इसी में से आगे चलकर द्राविड़ियन सिद्धांत अपने आप उदित हुआ। बिशप काल्डवेल ने सन १८५६ में अपने 'Compa rative grammer of Dravidian languages' ग्रंथ में भाषा के आधार पर द्राविड़ियन सिद्धांत का प्रतिप्रदान किया। डा. किटल, डा. एच. गुमडर्ट, श्री वी.ए. स्मिथ आदि लोगों ने शास्त्रीय विश्लेषण का कष्ट न लेते हुए काल्डवेल के इस कल्पनारंजन को एक शास्त्रीय सत्य के रूप में मान्यता दी। उसी प्रकार कल्पना का एक महत्त्व श्री कनकस भाई पिले ने खड़ा किया। उसने कहा द्रविड़ एक अलग भाषासमूह, जन-समूह है तथा हिन्दु महासागर में निमज्जित लिम्यूरियन महाद्वीप द्राविड़ियों का आदि देश है। शोधकर्ता फ्रांसिस व्हिटे एलिस व मिशनरी बेश्ची, पोप राबर्ट काल्डवेल आदि ने द्रविड़ संस्कृति की रूपरेखा भी प्रकाशित की और आगे चलकर कारड्यू, मूर हैमिक, एच.एफ. डब्ल्यू. गिलिमन तथा सर लीनेल डेविडसन जैसे आई.सी.एस. अधिकारियों के प्रोत्साहन से १९१२ में 'मद्रास द्राविड़ियन असोसिएशन' की स्थापना हुई। काल्डवेल द्वारा प्रारंभ किये गये उपद्रवों का दुष्परिणाम केवल मद्रास प्रांत तक ही सीमित नहीं रहा, वरन् भारत भर में उसके दुष्परिणाम हुए और एकसंघ हिन्दू समाज में खड़ी और आड़ी दरारें पड़ीं। विशेषतः 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' के रूप में हिन्दू मानस में जन्मजात एकात्मता के संस्कार को उसके कारण धक्का लगा और राष्ट्रीयता की नींव ही उखड़ गयी। इतने घोर दुष्परिणाम सामने होकर भी हमारे विद्वानों को आर्य आक्रमण के सिद्धांत का आग्रहपूर्वक खण्डन करने की इच्छा नहीं हुई। राष्ट्रप्रेम तथा सत्यवादिता के कारण बहुत थोड़े लोगों ने अंग्रेजों की इस चाल को विफल करने का साहस किया। इस पर उन्हें प्रतिक्रियावादी होने का लांछन भी सहना पड़ा। डा. बाबासाहेब अम्बेडकर, पू. श्री गुरुजी व दीनदयाल जी जैसे लोगों की गणना ऐसे चुनींदा लोगों में होती थी। उस समय ऐसे वक्तव्य देना साहस का कार्य माना गया था। दीनदयाल जी की मत्यु

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के बाद इस विषय के बारे में जो शास्त्रीय चर्चा विद्वानों ने की, उसके कारण अब ऐसी स्थिति निर्मित हो गयी है कि पंडित जी को उस समय दोष देने वालों को पुनःविचार की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। किंतु उनके जीवन-काल में इस विषय सम्बन्धी उनकी भूमिका धृष्टता की ही मानी गयी।

कारनेल विश्वविद्यालय के प्राध्यापक के.ए.आर. केनेडी ने अपने 'A reassessment of the Theories of Racial origins of the people of the Indus Valley Civilisation from the recent Anthropological Data' निबंध में इस धारणा को सर्वथा गलत सिद्ध किया है कि सिंधु घाटी के लोग आर्य नहीं थे, द्रविड़ियन थे। वंश की दृष्टि से उत्तर तथा दक्षिण भारतीयों के कंकालों में भिन्नता नहीं है। श्री केनेडी आकृतिविज्ञानी (मॉर्फोलोजिस्ट) हैं। प्रख्यात नृवंशशास्त्रज्ञ लैम्बर्ग कार्लोवस्की ने अभिमत व्यक्त किया है कि सिंधु घाटी के लोग आर्य थे, ऐसी ही संभावना है। अपने 'द्रविड़ियन थ्योरीज' निबंध में श्री एस. स्वामीनाथ अय्यर ने सप्रमाण सिद्ध कर दिया है कि पृथक् द्राविड़ भाषा समूह के बारे में बिशप काल्डवेल का सिद्धांत पूर्णतः निराधार है। 'द आर्यन्स—ए रिअप्रेजल' शीर्षक अपने लेख में श्री वी.के. थापर, भूतपूर्व महानिदेशक 'आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ इंडिया' ने असंदिग्ध रूप में यह घोषित किया है कि पुरातत्त्वशास्त्र की दृष्टि से आर्यों के भारत में बाहर से आने की पुष्टि करने वाला एक भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है। उल्टे, आर्य ही भारत के मूल निवासी हैं।

इसी विभाग के एक भूतपूर्व महानिदेशक प्रा. बी.बी. लाल ने अपने 'न्यू परस्पेक्टिव्स ऑफ इण्डस सिविलाइजेशन' ग्रंथ में अग्नि-पूजा की प्रथा से इसी बात को सिद्ध किया है। 'द राइज ऑफ सिविलाइजेशन इन इण्डिया एण्ड पाकिस्तान' ग्रंथ में आर्यों पर लिखे अध्याय में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के आल्चिन एफ.आर. तथा आल्चिन बी. नामक प्राध्यापकों ने इस संबंध में यही निष्कर्ष निकाला है।

श्री जी.एल. पोसेल द्वारा संपादित 'हड़प्पन सिविलाइजेशन' ग्रंथ में श्री राबर्ट डायसन द्वारा लिखित अंतिम अध्याय में भी यही मत व्यक्त किये गये हैं। श्री डायसन पेन्सिलवानिया विश्वविद्यालय के निदेशक हैं। इन सभी विद्वानों तथा विशेषतः पश्चिमी विद्वानों के उपर्युक्त मतों के कारण डा. अम्बेडकर, श्री गुरुजी, पंडित दीनदयाल जी आदि के प्रतिपादन का मखौल उड़ाने वालों को बहुत बड़ा धक्का पहुँचा है। अर्थात् चित हो जाने के बाद भी नाक ऊपर करने का सिलसिला और कुछ समय तक चला भी, तब भी वह अब अधिक नहीं चल सकेगा। इस बात को ध्यान में लें कि उपरिर्निदिष्ट सभी अभिप्राय पंडित जी की मृत्यु के बाद प्रकट हुए हैं, तो उनकी तत्त्वनिष्ठा और साहस की यथार्थ कल्पना की जा सकती है।

ऊपर उल्लिखित विद्वानों के अतिरिक्त हमारी राष्ट्रीयता में दरारें डालने का जी-जान से प्रयास यदि किसी ने किया है, तो कम्युनिस्टों ने। पंडित जी के राष्ट्रीय विचार को सबसे बड़ी चुनौती कम्युनिस्टों ने दी थी। सत्ता के हस्तांतरण के पूर्व कम्युनिस्ट दल ने सुझाया था कि, संपूर्ण भारत के लिए एक संविधान-सभा गठित करने के स्थान पर संविधान बनाने वाली १५ या १७ संस्थाएं बनायी जायें।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कारण, 'यह देश १५ या १७ विकसित राष्ट्रीय समूहों का मित्र-संघ है।' मार्क्सवादी सिद्धांत कहता है कि प्रत्येक राष्ट्रीय सामाजिक समूह को स्वयं निर्णय का अधिकार प्राप्त होना ही चाहिए। कम्युनिस्ट दल का सुझाव इसी सिद्धांत पर आधारित था। कम्युनिस्ट यह मानने को तैयार नहीं थे कि भारत एक राष्ट्र है। भारत की राष्ट्रीयता को क्या नाम दिया जाये, 'भारतीय' अथवा 'हिन्दू'; या दोनों, यह प्रश्न अलग है। कम्युनिस्टों का यह दावा था कि मूलतः यह एक राष्ट्र है ही नहीं तथा भारत की राष्ट्रीयता एक अवास्तविक स्वप्नरंजन मात्र है। उस कालखण्ड में कम्युनिज़्म की प्रतिष्ठा सर्वत्र बढ़ रही थी, अतः उनके प्रतिपादन का प्रभाव हिन्दू राष्ट्र के ढुलमुल समर्थकों पर भी हो रहा था। उन दिनों यह विचार प्रबल हो रहा था कि मार्क्स जैसा श्रेष्ठ विचारक भला गलत सिद्धांत का प्रतिपादन कैसे करेगा? 'भारतीय' या 'हिन्दू' यह प्रश्न ही बेतुका है; भारत मूलतः एक राष्ट्र है ही नहीं, वह अनेक राष्ट्रों का संघ है। पंडित जी के राष्ट्र-विचार अशास्त्रीय एवं केवल भावना के आवेग पर आधारित हैं, ऐसा कहने का फैशन भी पढ़े-लिखे लोगों में चल पड़ा था।

आज का दृश्य इससे भिन्न है। कम्युनिस्ट लोग अब कहने लगे हैं कि राष्ट्रीयता से संबंधित मार्क्स के विचारों का अर्थ लगाने में उस समय गलती हो गयी। आज सी.पी.आई. और सी.पी.एम. दोनों ज्येष्ठ कम्युनिस्ट दलों ने खालिस्तान की मांग का और असम तथा पूर्वोत्तर भाग में पृथकतावादी तत्त्वों का प्रबल विरोध करने की भूमिका निःसंकोच ली है। अनेकों को उनकी इस नवीन भूमिका पर आश्चर्य हुआ है। किंतु उसमें आश्चर्य करने जैसा कुछ भी नहीं है। 'राष्ट्र' तथा 'राष्ट्रीयता' के स्वरूप के बारे में विचारमंथन कम्युनिस्ट क्षेत्रों में १९६२ से ही प्रारंभ हो गया है। उसकी कुछ झलक 'करियार' नामक मलयालम मासिक पत्रिका के अक्टूबर १९८४ में प्रकाशित अंक में अच्युत मेनन के लेख में देखने को मिलती है। श्री अच्युत मेनन कुछ समय तक केरल के मुख्यमंत्री थे तथा कम्युनिस्ट दल के उच्च विचारकों में गिने जाते हैं। केरल से बाहर के पाठकों की सुविधा के लिए त्रिवेंद्रम के डा. एम.आर. गोपालकृष्णन नायर ने इस लेख का अंग्रेजी में अनुवाद किया है। इस लेख में श्री अच्युत मेनन ने राष्ट्रीयता की त्रिविध मार्क्सवादी कसौटी दी है— भौगोलिक एकात्मता, संस्कृति की एक ही ऐतिहासिक परंपरा तथा एक ही बोली-भाषा।

उन्होंने ऐसा मत प्रकट किया है कि भौगोलिक एकात्मता के सिद्धांत को बालाए ताक रखकर विश्वामित्री सृष्टि की भांति पाकिस्तान का निर्माण किया गया। अखण्ड भारत में भौगोलिक एकात्मता थी। शेष एशियाई महाद्वीप से भारत का अस्तित्व स्वतंत्र एवं पृथक् है।

यह सच है कि भारत में अनेक भाषाएं प्रचलित हैं और वह एक कठिनाई भी है। किंतु संस्कृति का भाषा के साथ यद्यपि घनिष्ट संबंध है, उसका क्षेत्र केवल भाषा तक ही सीमित नहीं है। श्री मेनन हार्दिकता से लेख में कहते हैं कि भारत में प्राचीन काल से आसेतु हिमाचल सांस्कृतिक एकात्मता अखण्ड रूप में चली आयी है।

वे आगे कहते हैं कि "यद्यपि यह सच है कि ब्रिटिश शासन होने और रानी विक्टोरिया को भारत की साम्राज्ञी घोषित करने के पूर्व भारत में शासकीय एवं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

राजनीतिक एकता नहीं थी। फिर भी राज्यों की विविधता भारत की सांस्कृतिक एंकता २२ को नष्ट नहीं कर सकी। विविध राज्य होते हुए भी प्राचीन काल से सभी भारतीयों के मन में यह दृढ़ भावना जाग्रत थी कि हम सब एक ही परंपरा के उत्तराधिकारी हैं।"

"ऐसा दिखाई देता है कि सांस्कृतिक एकता निर्मित करने में हिंदू जीवन-श्रद्धा का बहुत बड़ा योगदान है। मैं हिंदू धर्म को प्रयुक्त नहीं करता, इसका कारण यह है कि सामान्य अर्थ में हिन्दू एक धर्म* नहीं है। दूसरा कारण यह है कि बौद्ध और जैन सम्प्रदायों का समावेश मैं हिन्दू जीवन-श्रद्धाओं के अनुयायियों में ही करता हूँ... एकता के बंधन को दृढ़ करने में वैदिक तथा औपनिषदिक साहित्य तथा उसमें निहित तत्त्वज्ञान और उससे भी प्राचीन पुराण-कथाओं का— विशेषतः रामायण और महाभारत का योगदान विशेष रूप से बड़ा है।"

"सांस्कृतिक एकता की भावना का पोषण करने वाली एक और बात भी है— प्राचीन काल से हिंदुओं में तीर्थ-यात्रा लोकप्रिय रही। हिन्दुओं की धारणा थी कि श्रीक्षेत्र काशी से लेकर उत्तर-पश्चिम में काश्मीर की अमरनाथ की गुफा तक, उत्तर में ऋषिकेश और बद्रीनाथ तक तथा दक्षिण में रामेश्वरम् और कन्याकुमारी तक सब अपने ही देश के भाग हैं। श्री शंकराचार्य ने चार प्रमुख मठों की स्थापना देश के चार कोनों में की। क्या यह महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं था? ऐसे काल में जबकि घने जंगलों और डाकुओं के आक्रमणों के कारण भारत में प्रवास बहुत ही कठिन एवं खतरे से भरा हुआ था, केवल ३२ वर्ष की आयु प्राप्त इस संन्यासी ने देश की चारों सीमाओं तक प्रवास किया और अपने तत्त्वविचारों का दिग्विजयी ध्वज वहाँ फहराया। इस की कल्पना मात्र से आज भी क्या हम चकित नहीं हो जाते? क्या श्री शंकराचार्य की दिग्विजय भारत की एकता का ही प्रतीक नहीं है?

"हिन्दू जीवन-श्रद्धा पर आधारित इस एकता को मुस्लिम आक्रमण के काल के बाद अनेक बाधाओ का सामना करना पड़ा, किंतु ऐसा दिखाई देता है कि कालांतर से भारत में इस्लाम का भी कुछ मात्रा में भारतीयकरण हो गया है।"

श्री मेनन का यह लेख विचारोत्तेजक है। किंतु वह संपूर्ण लेख उद्धृत करना यहाँ संभव नहीं। संक्षेप में श्री मेनन ने ऐसा निष्कर्ष निकाला है कि "भारतीय राष्ट्रीयता की बात करना मिथ्या आभास को सत्य मानना नहीं है... भारतीय राष्ट्रीयता एक वास्तविकता है।"

अब तो वस्तुतः यह पुनर्विचार करने की आवश्यकता है कि हम जिसे 'राष्ट्रीयता' कहते हैं, वह धारणापुंज तथा पश्चिमी लोग जिसे 'नेशनलिज़्म' कहते हैं उस भावना में महत्त्वपूर्ण गुणात्मक अंतर है या नहीं? इसके अतिरिक्त एक अलग प्रश्न यह भी है कि 'नेशनलिज़्म' भी एक प्रकार की ऐसी गुणात्मक भावना ही है या उसके भी, ऐतिहासिक विकासक्रम के अंतर के कारण, अलग-अलग प्रकार विकसित हो गये हैं? इस पहलू पर श्री एल.एल. स्नाइडर ने अपने 'नेशनलिज्मः

---

* वर्णाश्रम धर्म के समर्थक श्री अप्रबुद्ध भी जैन, बौद्ध, लिंगायत, महानुभाव, सिख, एवं सनातनी को एक ही श्रेणी में गिनते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इट्स मीनिंग एण्ड हिस्टरी, वैराइटीज ऑफ नेशनलिज्म' ग्रंथ में किया हुआ विवरण अध्ययन करने योग्य है। यूरोप के 'नेशनलिज्म' और हमारी 'राष्ट्रीयता' के स्वरूप में गुणात्मक अंतर विशद करते हुए श्री विपिनचंद्र पाल कहते हैं–

"यह शुद्ध हिन्दू कल्पना होने के कारण मैं राष्ट्रीयता का वर्णन किसी समाज के लोगों के व्यक्तित्व के रूप में करूंगा, न कि उसे उनका व्यष्टिभाव (प्रत्येक पृथक् अस्तित्व) कहकर–जैसा कि मैजिनी का मत था।"

पंडित जी के जीवित रहते, जिन्होंने उनकी एकराष्ट्रीयता की कल्पना का मखौल उड़ाया था और भारत को बहुराष्ट्रीय राज्य घोषित किया था, उनकी आज तक की यह वैचारिक यात्रा पंडित जी के विचारों की शास्त्रशुद्धता का विश्वास दिलाने वाली है। अपनी इस वैचारिक विजय को देखने के लिए पंडितजी आज हममें नहीं हैं, यह बात सबको पीड़ा देने वाली है।

१४.

वस्तुतः पंडित जी अधिकारपद की दृष्टि से केवल एक राजनीतिक दल के महामंत्री थे। किंतु वह उनके विशाल व्यक्तित्व का केवल एक पक्ष मात्र था। उनकी मूल भूमिका तत्त्वद्रष्टा की थी। केवल राजनीतिक दृष्टिकोण से मानवतावाद तक पहुँचना न तो संभव है और न आवश्यक ही। आवश्यक इसलिए नहीं कि मानवतावाद का समर्थन करने से मतों की संख्या बढ़ने का कोई भरोसा नहीं, और संभव इसलिए नहीं कि राजनीतिक क्षेत्र में वह एक चलतू सिक्का नहीं।

मानवतावाद की कल्पना कहने को बड़ी सरल है। नितांत स्वार्थी व्यक्ति भी 'ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या' की भाषा बोल सकता है। किंतु आज के संसार में मानवता की ओर प्रस्थान करना बहुत कठिन हो बैठा है। दी मैस्त्रे का निम्न निरीक्षण इस दृष्टि से उद्बोधक है–

"अपने जीवनकाल में मैंने फ्रांसीसी, इतावली और रूसी लोग देखे हैं। मांटेस्क्यू की कृपा से मैं यह भी समझ पाया हूं कि कोई व्यक्ति प्रशियन भी हो सकता है। किन्तु जहां तक 'मानव' का संबंध है, मैं प्रकट रूप से बताता हूं कि अपने जीवन में मेरी उससे भेंट कहीं नहीं हुई। यदि वह कहीं अस्तित्व में होगा भी, तो उसकी मुझे कोई जानकारी नहीं है।"

"आधुनिक संस्कृति का मार्ग मानवता से राष्ट्रीयता की ओर होता हुआ पशुता की ओर जाता है।" (ग्रिल पार्झर, १८४८)

इस वातावरण में मानवतावाद का पक्ष धर बनना साहसिक कार्य ही है। उसमें भी धर्माष्ठित मानवतावाद का समर्थन करना तो अतिसाहसिक कार्य था।

यूरोप में मानवतावाद का दार्शनिक एवं साहित्यिक आंदोलन १४ वीं सदी के उत्तरार्ध में इटली में प्रारम्भ हुआ और १५वीं तथा १६वीं सदी में अन्य यूरोपीय देशों में फैल गया। १८वीं सदी तक इस मानवतावाद ने यूरोप के विभिन्न समाजों पर अपना पर्याप्त प्रभाव स्थापित किया और आधुनिक पश्चिमी संस्कृति का उसे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एक प्रमुख अंग माना गया। तत्त्वज्ञान की दृष्टि से यूरोपीय मानवतावाद 'स्वभाववाद' से भिन्न था। कारण, एक ओर तो वह सारी जीवन सृष्टि से मानव की अपूर्वता को मानता था, तो दूसरी ओर वह अव्यक्त तत्त्व एवं कल्पना से प्रत्यक्ष दैनिक मानवीय जीवन के अनुभवों की श्रेष्ठता स्वीकार करता था। साहित्यिक आन्दोलनके नाते यह यूरोपीय मानवतावाद इतावली पुनरुज्जीवन का भाव-विश्व ही था। बौद्धिक स्वाधीनता एवं स्वतंत्रता की भावना से ओतप्रोत प्राचीन ग्रीस एवं रोम के भाव-विश्व यूरोपीय मानवतावाद में प्रतिबिम्बित हुए थे। इस मानवतावाद ने मध्ययुगीन ईसाई मानस, उसके अंतर्गत आने वाली 'थिओक्रेसी', पोप की सत्ता एवं वैटिकन सिटी द्वारा प्रस्थापित ईश्वरीय सत्ता को चुनौती दी। इस मानवतावाद की जड़ें प्राचीन ग्रीक प्रणाली में थीं। प्रोटेगोरस का निम्नलिखित प्रसिद्ध वचन इस मानवतावाद के लिए आधारभूत था।

"मनुष्य सब वस्तुओं का— जो हैं उनके होने का और जो नहीं हैं उनके न होने का— मापदण्ड है।"

वैसे देखा जाये तो यूरोपीय मानवतावाद की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं और विभिन्न यूरोपीय विचार-प्रणालियाँ मानवतावाद के साथ अपना नाता बताती है। तथापि इन सब में निम्नलिखित धारणाएं समान हैं—

मनुष्य अपना भाग्यविधाता है। अपना भवितव्य बनाने की स्वतंत्रता उसे है। मनुष्य ही विश्व का केन्द्र है। अपनी स्वतंत्रता के साथ ही दूसरों की भी स्वतंत्रता एवं मत का आदर करना उचित है। पुनरुज्जीवन ने जिन प्रत्यक्ष भौतिक बातों पर बल दिया है, उनके आधार पर कला, विज्ञान तथा तंत्रविज्ञान का विकास करना चाहिए। थोथे अध्यात्म के चक्कर में न पड़ते हुए प्राचीन ग्रीक कालखण्ड के प्रकाश में ऐतिहासिक दृष्टि को विकसित करना चाहिए। नंगा भोगवाद कितना ही त्याज्य क्यों न हो, मध्ययुगीन ईसाई निवृत्ति-मार्ग भी उतना ही त्याज्य है। ग्रीक एवं रोमन साम्राज्य के संतुलित भोगवाद को स्वीकार करना चाहिए— जिनका मागदर्शक सूत्र होरेस का यह वचन था कि 'किसी भी बात का अतिरेक त्याज्य है।' भोग को नैतिक तत्त्वज्ञान के साथ जोड़ना चाहिए, मनुष्य का विचार सर्वांगीण समग्रता से करना चाहिए, ऐसी विचार-प्रणाली का विकास यूरोप के मानवतावाद ने किया जिसमें जीवन के सभी अंगों का संतुलित विचार हो सके। यूरोपीय मानवतावाद का उदय होने से पूर्व सम्पूर्ण यूरोप पर ईसाई मत का वैचारिक अधिराज्य था। आजकल एक नयी संज्ञा प्रचार में आयी है— ईसाई मानवतावाद (क्रिश्चियन ह्यूमैनिज़्म) किंवा ईश्वर केन्द्रित मानवतावाद। ईसा मसीह का मूल उपदेश, सेंट पाल द्वारा निर्मित चर्चानिटी और उसके भी बाद यूरोपीय समाज में सशक्त शक्तियों के साथ चर्च द्वारा किया गया गठबंधन का सारा क्रम ध्यान में लें तो क्रिश्चियन ह्यूमैनिज्म या 'ईश्वर केन्द्रित मानवतावाद' संज्ञा का खोखलापन सहज में समझ में आ सकता है।

मध्ययुगीन ईसाई मत से (भले ही उसे आज ईश्वर केन्द्रित मानवतावाद का नाम क्यों न प्राप्त हुआ हो) यह मानवतावाद निश्चय ही अधिक प्रगतिशील था। किंतु मध्ययुगीन मतों की प्रतिक्रिया भी उसमें समाविष्ट होने के कारण संभवतः इस

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वाद का लम्बक दूसरे छोर तक जा पहुँचा। पोप एवं चर्च की अधिसत्ता के विरुद्ध विद्रोह करने के आवेश में इस मानवतावाद ने परमेश्वर को ही अमान्य किया।

जैसा कि एटीने बोर्न ने कहा है–

''नास्तिकवाद भी एक प्रकार का मानवतावाद ही होता है। ''तत्त्वज्ञ फ्यूअरबैक के प्रतिपादन के अनुसार आधुनिक मानवतावाद ने यह बात स्वीकार की है कि... ... ''मनुष्य को ही सब कुछ बनना हो तो ईश्वर को विसर्जित करना पड़ेगा।'' इस आत्यंतिक भूमिका के कारण यह मानवतावाद मनुष्य जाति के अस्तित्व को केन्द्र मानने वाला बन गया है। ऐसे यूरोपीय मानवतावाद का उत्तम प्रकटीकरण मैक्सिम गोर्की ने 'द लोअर डेप्थ्स' शीर्षक अपने नाटक में एक पात्र के निम्नलिखित वक्तव्य द्वारा प्रकट किया है। लेनिन ने भी इस नाटक की प्रशंसा की थी–

''सब बातें मनुष्य का ही भाग है। सभी बातें मनुष्य के लिए ही हैं। मनुष्य ही केवल सत्य है।''

पश्चिम में मानवतावाद के दो लक्षण– भौतिकवादी अधिष्ठान एवं मानव-केन्द्रितता उसके सभी प्रकारों में पाये जाते हैं। अभिजात मानवतावाद, मार्क्सवादी मानवतावाद, अस्तित्ववादी मानवतावाद एवं नवोदित पर्यावरणात्मक मानवतावाद भी इस नियम के अपवाद नहीं हैं।

पिछली सदी के मध्य में वामपंथी क्रान्तिकार्य करने वालों की मनोवृत्ति के बारे में डामर के ये उद्गार देखिए–

''अभागे पशुओं को अत्याचारी क्रूर मनुष्यों से जो भयानक यातनाएं सहन करनी पड़ती हैं, इन बर्बर लोगों की दृष्टि में बिल्कुल ही नगण्य बातें हैं और किसी को उसके बारे में कोई चिंता करने की आवश्कयता नहीं।''

मानवतावाद को प्राथमिकता अथवा कोई भी स्थान न देने वाली अन्य सभी संकीर्ण श्रद्धाओं तथा तत्त्वज्ञानों की अपेक्षा भौतिकता प्रधान यूरोप का मानवतावाद भले ही अधिक श्रेष्ठ क्यों न प्रतीत होता हो, उसका यह मानव केन्द्रित विश्वदर्शन मनुष्य को अमानुष बना सकता है। एकात्म मानववाद का समर्थन करने वाले मैरिटेन अपने 'ट्रू ह्यूमैनिज्म' में कहते हैं–

''किसी भी स्वरूप में मानव जाति को ही अस्तित्व का केंद्र मानने वाला मानवतावाद अंततः 'अमानुष मानवतावाद' ही है।''

पंडितजी का मानवतावाद इस दृष्टि से यूरोपीय मानवतावाद से भिन्न एवं श्रेष्ठ है।

मानवतावाद के साथ नाता बताने वाली आधुनिक 'पुरोगामी' यूरोपीय विचारधाराएं भी विशुद्ध भौतिकतावादी नींव पर खड़ी होने के कारण सच्चे मानवतावाद तक नहीं पहुँच सकी हैं।

यूरोपीय मानवतावाद के विकास में परिस्थितिवश कुछ सीमाएं आ पड़ी थीं। राबर्ट ओवेन, सेंट साइमन ही नहीं, अपितु स्वयं कार्ल मार्क्स की भी वैचारिक प्रेरणा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नीतिशास्त्र में ही थी। (परायेपन) और अमानवीयकरण पर मार्क्स ने आक्रमण किया। यूगोस्लाव विद्वान वेल्जको कोरैक कहते हैं:

"मजदूरी की यंत्रणाओं से मुक्त रहने वाला सच्चा मानव मार्क्स का लक्ष्य था। श्रम विभाजन से विच्छिन्न मानव मार्क्स को कतई अभिप्रेत नहीं था।"

इस विचार की प्रेरणा विशुद्ध भौतिकवाद से मिल ही नहीं सकती। यह नीतिशास्त्र का क्षेत्र है। श्री जयप्रकाश नारायण ने कहा था—

"नैतिक आचरण और भलाई के लिए प्रेरणा के नाते जड़वादी तात्त्विक दृष्टिकोण किसी प्रकार का आधार नहीं दे सका है।"

किंतु पिछली सदी में यूरोप के मन में एक समीकरण बैठा था*-नीतिशास्त्र का अर्थ है रिलीजन; रिलीजन का अर्थ है चर्च; चर्च का अर्थ है एक शोषक शक्ति; जिसका अर्थ यह हुआ कि विद्रोह किये बिना अंधश्रद्धा में जकड़े मानव-मानस को मुक्ति प्राप्त नहीं होगी[२३]। अतः मार्क्स ने नीतिशास्त्र के पहलू को पृष्ठभूमि मे छोड़ दिया और साधन के रूप में उपयोग में लायी गयी अर्थनीति को ही सब में प्रधानता दी। विशुद्ध भौतिकवाद ही इन विचारों का आधार बन गया। उसी समय विकसित यूरोपीय विज्ञान ने जड़ द्रव्य को मौलिक (आधारभूत) तत्त्व माना और प्रचण्ड प्रगति की संभावना मानव के सम्मुख प्रस्तुत की। इन दोनों बातों के संकलित परिणाम के रूप में यूरोपीय मानवतावाद को विशुद्ध भौतिक आधार प्राप्त हुआ। इसमें से सच्चे मानवतावाद तक पहुँचना असंभव ही था। एरिक फ्रोम द्वारा संपादित 'सोशलिस्ट ह्यूमैनिज्म' ग्रंथमें 'परायेपन' (एलिअनेशन) शब्द को सबसे अधिक बार दोहराया गया है। मार्क्स एवं अन्य समाजवादियों ने भी परायेपन (एलिअनेशन) तथा अमानवीयकरण (डिह्यूमैनाइजेशन) के विरुद्ध 'जेहाद' छेड़ा है। किंतु किस समाजवादी अथवा कम्युनिस्ट देश ने ये दोनों बातें समाप्त की हैं? इस विफलता की कारण-मीमांसा पंडितजी की मौलिक विचार-प्रणाली की श्रेष्ठता को प्रस्थापित करेगी।

पश्चिम के तत्त्वज्ञान एवं विश्वदर्शन का पूर्ण विचार कर श्री एम०एन० राय के भारतीय मन ने भारतीय पद्धति से मानववाद की रचना करने का प्रयास किया। उन्होंने 'आर्थिक मानव' की संकल्पना को त्याज्य ठहराया। पूंजीवाद, समाजवाद, कल्याणकारी राज्य, राजनीतिक दल, कम्युनिज्म, औपचारिक लोकतंत्र, मानव की प्राकृतिक स्वार्थी वृत्ति, वर्ग-संघर्ष की कल्पना, स्पर्धा आदि सभी पश्चिमी अवधारणाओं की त्रुटियों को उन्होंने उजागर किया और घोषण की—

"जन्मजात प्रवृत्ति ही प्राथमिक बुद्धि है। अतः मनुष्य मूलतः बुद्धिवादी प्राणी है... ... बुद्धिवाद मुनष्य की स्वार्थवृत्ति को उदात्त आत्महित की अधीनता में ला सकता है जो एक सामाजिक सद्‌गुण है... बुद्धिप्रामाण्य ही नैतिकता को मान्यता दिलाने वाली शक्ति होती है... ... सामाजिक तत्त्वज्ञान और राजनीतिक व्यवहार

* अर्बन कहते हैं, "नीतिशास्त्र एक ऐसा विज्ञान है जो मनुष्य के सही अथवा गलत, अच्छे या बुरे आचरण की मीमांसा करता है।"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का नैतिकता के साथ अच्छा तालमेल बिठाना आज के युग की ज्वलंत आवश्यकता है... ... मनुष्य को एक नैतिक सत्ता मान लें, तभी उसके प्रभुत्त्व को कुछ अर्थ प्राप्त होता है... ... मनुष्य नैतिक है, क्योंकि उसे विचारशक्ति प्राप्त हैं। अपने ही अंतर्गत विधानों द्वारा संचालित विश्व एक नैतिक व्यवस्था है। उस पृष्ठभूमि में मनुष्य छोटे से बड़ा होता है... नीतिशास्त्र को नैतिक तत्त्वज्ञान की नींव होना चाहिए। हमारे समय की यह ज्वलन्त आवश्यकता है।"

सभी पश्चिमी तत्वज्ञानों का गहन अध्ययन किये इस भारतीय विचारक ने पश्चिम के सारे दृष्टिकोण को ही सदोष एवं अपर्याप्त ठहराया। जड़ द्रव्य की द्वन्द्वात्मकता की कल्पना को गतिमयता के साथ जोड़ दिया और इस प्रकार अपने वैज्ञानिक, नये अथवा समग्र मानवतावाद को पश्चिम से दूर भारत के निकट लाकर बिठा दिया। पश्चिमी विचारधाराओं के बारे में उनका भ्रम अधिकाधिक टूटता गया। तथापि कई दशकों से मन पर पक्के जमे भौतिकतावाद के संस्कारों से मन को पूर्णतः मुक्त करने के लिए कुछ अधिक समय बीतने की आवश्यकता थी। इतना समय उन्हें मिलता तो वे पंडितजी के मानवतावाद तक अवश्य पहुँच जाते, इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए पर्याप्त स्थान है[२४]।

१५.

पंडितजी ने जिस समय राजनीति में प्रवेश किया तब किसी न किसी 'इज्म' (वाद) का समर्थक या अनुयायी बनने का फैशन हो गया था। और वह 'इज्म' भी पश्चिम से उधार लिया ही होता था। वास्तव में इन विभिन्न वादों की व्यर्थता विचारकों के ध्यान में आने योग्य परिस्थिति उस समय भी थी, किंतु अपने प्रति हीनता की भावना के कारण एवं पश्चिमी प्रगति की चकाचौंध के कारण अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों के मन में यह भावना निर्मित हो गयी थी कि पश्चिमी लोगों का अन्धानुकरण करना ही प्रगतिशीलता है। यह वातावरण इतना प्रभावी हो गया था कि हिन्दुत्ववादी नेताओं को भी 'हिन्दू समाजवाद' शब्द प्रयुक्त करने का मोह हो गया था और कुछ वेदान्त के समर्थकों को यह कहने की इच्छा हो रही थी कि हमारा वेदांत 'आध्यात्मिक कम्युनिज्म' है। इससे दार्शनिक क्षेत्र में हमारे उन विचारकों की दीनता स्पष्ट हो जाती है। ऐसी अवस्था में पंडितजी ने साहसपूर्वक सभी पश्चिमी विचारधाराओं के मोह को टाला और भारतीय संस्कृति के आधार पर राष्ट्र की पुनर्रचना करने का निश्चय प्रकट किया।

पश्चिम में औद्योगिक क्रान्ति के बाद यंत्र युग के साथ ही पूंजीवादी रचना प्रारंभ हुई। आर्थिक प्रगति के निर्देशांक के नातें पूंजीवाद की प्रगति की ओर लोग देखने लगे। कालांतर से इस रचना में निहित अन्तर्विरोध भी स्पष्ट होता गया।

जोसेफ शूम्पीटर ने अपने 'पूंजीवाद, समाजवाद तथा प्रजातंत्र' नामक अंग्रेजी पुस्तक में कहा है—

पूंजीवादी अर्थव्यस्था स्थिर नहीं है, और न कभी वह स्थिर हो सकती है। वह धीमी गति से विस्तार भी नहीं कर पाती। नये-नये औद्योगिक उपक्रमों के द्वारा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उसमें भीतर से निरन्तर एक परिवर्तन होता जाता है, क्योंकि उपभोग की नयी वस्तुएं बाजार में आती रहती हैं या विद्यमान औद्योगिक रचना में नये अवसर उपलब्ध होते हैं। किसी भी विद्यमान अवस्था में उद्योग के नियमों में लगातार परिवर्तन होता रहता है। एक अवस्था परिपूर्ण होने से पूर्व ही टूट जाती है। पूंजीवादी समाज में आर्थिक प्रगति का अर्थ सर्वत्र गड़बड़झाला है।"

"प्रथम विश्वयुद्ध के बाद हम जिस पतनाभिमुख अंतरराष्ट्रीय किंतु व्यक्तिवादी पूंजीवाद के अधीन हो गये, वह सफल नहीं रहा है। वह प्रतिभा से प्रखर, सुंदर, न्यायसंगत अथवा गुणसम्पन्न भी नहीं है और संतोषजनक परिणाम उससे प्राप्त नहीं हुए हैं। संक्षेप में वह हमें रुचिकर नहीं और हम लोग उसका तिरस्कार करने लगे हैं।"

पूंजीवाद एवं उससे उत्पन्न साम्राज्यवाद के दुष्परिणामों का सप्रमाण विवरण श्री दादाभाई नौरोजी तथा न्यायमूर्ति रानडे ने प्रारंभ में ही दे रखा है। श्री गोपालकृष्ण गोखले तथा श्री रमेशचन्द्र दत्त ने शोषण के इसी विवरण को अधिक तथ्यों के आधार पर सबके सम्मुख रखा। वह सब भारतीय शोषण के संदर्भ में था।

पूंजीवाद के बारे में यही भावना सार्वत्रिक है और इस दवाव में इस रचना को अपने में अनेक परिवर्तन करने पड़े हैं।

भारत में पंडितजी के समय लोकप्रिय विचारधाराएं वामपंथी ही थीं। उनकी विभिन्न छटाएं फीके गुलाबी से लेकर गहरे लाल रंग तक अलग-अलग क्यों न हों, किंतु वामपंथीयता ही सबकी विशेषता थी*। बहुत से लोगों को यह भ्रान्ति है कि फैशनेबल वामपंथी विचार-प्रणाली के साथ भारत का संबंध अभी-अभी आया है। यह धारणा सही नहीं है। राजा राममोहन राय सती प्रथा के विरुद्ध इंग्लैंड के सांसदों को अपना पक्ष समझाने के लिए इंग्लैंड गये थे। उस समय रॉबर्ट ओवेन से उनकी भेंट करा दी गयी थी। श्री ओवेन संस्थापक समाजवादी नेताओं में से एक थे। डा. आर्नौट के घर हुई इस भेंट का हम तक पहुँचा समाचार केवल इतना ही है कि चर्चा प्रारंभ होने के बाद ओवेन चिढ़ गये और आवेश में आकर अपने पक्ष का प्रतिपादन हाथ पटक-पटक कर करने लगे। श्री राय के चरित्रकार सोफिया कोलेट ने लिखा है कि इस अवसर पर राममोहन राय की शांति बिल्कुल भी विचलित नहीं हुई। यह उल्लेखनीय है कि इंग्लैंड से लौट आने के बाद समाजवाद का प्रचार करना अस्वीकार करते हुए उन्होंने अपनी शक्ति ब्रह्म समाज के काम में लगा दी। प्रौढन द्वारा समर्थित एवं बैकुनिन द्वारा प्रतिपादित अराजकतावाद के मनीषी के रूप में ख्याति प्राप्त प्रिंस क्रोपोटकिन के प्रमुख अनुयायियों में भगिनी निवेदिता को गिना जाता है। उन्होंने क्रोपोटकिन तथा स्वामी विवेकानंद की भेंट करा दी थी। इस भेंट

* प्रारंभ से ही जागतिक वामपंथी लोगों का वैचारिक अहंकार किस प्रकार पराकोटि पर पहुँच गया था, इसका उदाहरण ट्राटस्की की निम्न टिप्पणी से मिलता है— "केवल समाजवादी समाज में ही सामान्य मनुष्य प्लेटो या मार्क्स के स्तर तक पहुँच सकता है।"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में बातचीत सौहार्दपूर्ण वातावरण में हुई। कारण, हिन्दू आदर्श भी 'नैव राजाऽऽसीत्' ही रहा है। तथापि यह ध्यान में लेने योग्य है कि भगिनी निवेदिता ने अपना शेष जीवन भारत में हिन्दू आदर्श की सेवा एवं प्रचार करने में बिता दिया।

पूँजीवाद के विकास के बाद की प्रतिक्रिया के रूप में अनेक विचारधाराएं पश्चिम में उदित हुईं। फेबियन सोशलिज्म अथवा गिल्ड सोशलिज्म जैसी कुछ शाकाहारी विचार-प्रणालियों का अपवाद छोड़ दें तो अधिकांश विचारधाराएं हिंसाचारी ही थीं। मार्क्स ने रक्तरंजित क्रान्ति को अपरिहार्य बताया था। श्रमिकसंघवाद के प्रणेता एवं 'रिफ्लेक्शन्स ऑन वायलेन्स' के लेखक जार्जेस सोरेल तथा समाजशास्त्री पैरिटो ने भी हिंसा की आवश्यकता का प्रतिपादन किया था। संकल्प तथा अतिमानव का आदर्श रखने वाले नीत्शे तथा बर्गसां और फिश्टे ने हिंसाचार का प्रकट समर्थन किया था। बिस्मार्क के 'रुधिर और लोहा' सिद्धान्त को प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जर्मनी में विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। गोबिन्यू तथा हुस्टन स्टुअर्ट चैम्बरलेन और रोजेनबर्ग के लेखों के आधार पर ज्यू (यहूदी) विरोधी वंशवाद को जर्मनी में प्रखर किया गया और वंशवाद, राष्ट्रीय समाजवाद तथा हिंसावाद का एकत्रीकरण हिटलर के जर्मनी में हुआ।

हिटलर के गुरुस्थानीय और फासिज्म के आद्य प्रणेता बेनिटो मुसोलिनी ने तो सभी लोक-लज्जा छोड़कर घोषणा की थी, "केवल युद्ध के समय ही मनुष्य की सारी शक्तियाँ तनाव के सर्वोच्च बिन्दु पर पहुँचती हैं और जिन लोगों में युद्ध का सामना करने का साहस है, उन पर ही वह श्रेष्ठता की छाप अंकित करता है[२५]।"

कू क्लक्स क्लान जैसे वंशवादी हों अथवा इटली के फासिस्ट, जर्मनी के नाजी, स्पेन के फ्रैंकोप्रणीत फलेंगिस्ट, पुर्तगाल के सालाजार के यूनिटो नेशनल्स और अर्जेंटीना के पेरोनिस्ट दल की भांति दक्षिणपंथी* हों अथवा श्रमिकसंघवाद-अराजकवाद जैसे वामपंथी, हिंसा के नंगे नाच पर आधारित विचारधारा को भारत जैसे प्राचीन, प्रौढ़ तथा परिपक्व देश में कोई स्थान मिलना संभव नहीं था। फिर भी रूस में बोल्शेविक राज्यक्रान्ति के सफल होने के बाद भारत में कम्युनिज्म का प्रवेश हुआ। १७ अक्टूबर, १९२० को ताशकंद में कम्युनिस्ट पार्टी की भारतीय शाखा की स्थापना की गयी और दिसम्बर १९२५ में कानपुर में उस दल का पहला अखिल भारतीय अधिवेशन हुआ। वास्तव में भारतीय मन को आकृष्ट करने वाली कोई बात कम्युनिज्म के तत्त्वज्ञान में नहीं थी।

---

* हमारे देश में 'न्यू लेफ्ट' आंदोलन की तो लोगो को जानकारी है, किन्तु 'न्यू राइट' आन्दोलन के बारे में विशेष जानकारी नहीं है। एलेन डे बेनोइस्ट की प्रेरणा से फ्रांस में प्रारंभ हुआ 'न्यू राइट मूवमेंट' मानवीय असमानता को सम्माननीय मानता है और ऐसी धारणा रखता है कि समतावादी क्रिश्चियन मतों के कारण यूरोपीय समाज भ्रष्ट होने से पूर्व 'इंडो यूरोपीय' या 'आर्य' संस्कृति सर्वश्रेष्ठ थी। 'आर्यन' संज्ञा में उस आंदोलन के समर्थक जर्मन, ग्रीक एवं रोमन का समावेश करते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तत्त्वज्ञान के बारे में जानकारी एवं आस्था न रखने वाले बहुत से युवक कम्युनिस्ट दल की ओर आकर्षित हो गये तो इसका कारण था रूसी राज्यक्रान्ति की सफलता। महात्मा गांधी की आन्दोलनप्रणाली से उग्रप्रवृत्ति के युवक अप्रसन्न थे। दूसरा वैकल्पिक नेतृत्व अथवा आन्दोलन सामने नहीं था। इन लोगों का विश्वास था कि अहिंसात्मक मार्ग नहीं, अपितु हिंसा का मार्ग ही स्वराज्य प्राप्त करा सकता है। गांधीवादी आन्दोलन का विकल्प वे लोग खोज रहे थे। रूसी राज्यक्रान्ति की सफलता के कारण यह बात उनके मन में बैठ गयी कि कम्युनिस्ट दल ऐसा विकल्प है। अत: विभिन्न प्रान्तों में ऐसी उग्र प्रवृत्ति के लोगों ने कम्युनिस्ट दल का झण्डा फहराया [२६]। ऐसे लोगों ने, जिन्हें कम्युनिज्म का तत्त्वज्ञान अतिवादी प्रतीत होता था और कांग्रेस के अंतर्गत रहकर नेतृत्व पर नीचे से दबाव डालते हुए कांग्रेस के आन्दोलन की दिशा को बदलने का विश्वास जिनमें था, उन्होंने १९३४ के मई मास में कांग्रेस के अंतर्गत 'कांग्रेस सोशलिस्ट ग्रुप' की स्थापना की। महात्मा जी का प्रभाव कितना भी बड़ा क्यों न हो, कांग्रेस सोशलिस्टं ग्रुप के पास ख्यातनाम् लोगों की कमी नहीं थी। आचार्य नरेन्द्र देव, जयप्रकाश नारायण, यूसुफ मेहरअली, अशोक मेहता, राममनोहर लोहिया, कमला देवी चट्टोपाध्याय, एस०एम० जोशी, ना०ग० गोरे, अच्युतराव पटवर्धन, मीनू मसानी, एम०एल० दांतवाला, अरुणा आसफ अली, सुरेन्द्रनाथ द्विवेदी, पुरुषोत्तम त्रिकमदास आदि जाने-माने लोग इस दल का नेतृत्व कर रहे थे। अत: स्वराज्य-प्राप्ति के बाद सोशलिस्ट लोगों द्वारा अपना स्वतंत्र दल स्थापित कर लिये जाने के कारण जन-मानस में उसके लिए कांग्रेस के विकल्प के रूप में एक स्थान निर्मित हो गया था। अनेक क्षेत्रों में यह धारणा भी फैल गयी थी कि सर्वश्री जयप्रकाश नारायण, राममनोहर लोहिया तथा अशोक मेहता की त्रिमूर्ति देश को नया वैकल्पिक नेतृत्व देगी। इस प्रकार दीनदयाल जी ने जब राजनीति में प्रवेश किया तब सत्ताधारी कांग्रेस के बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण दल समाजवादियों का था और उसके बाद अधिक सुसंगठित कम्युनिस्ट दल हिन्दीभाषी कुछ प्रान्तों में अपने प्रकोष्ठ निर्मित कर तीसरे क्रमांक पर था। सोशलिज्म तथा कम्युनिज्म का उन दिनों सर्वत्र बोलबाला था, इतना कि निकट भविष्य में कांग्रेसी को भी यह घोषणा करनी पड़ी कि उसका लक्ष्य भी 'समाजवादी समाज-रचना' है। वामपंथ को इतनी व्यापक लोकप्रियता मिलने के कारण अपने को वामपंथी कहलाने की इच्छा किसी भी राजनीतिक नेता के मन में उत्पन्न होना स्वाभाविक था। किंतु पंडितजी ऐसे सस्ते नेताओं में नहीं थे। तत्कालीन वातावरण में वामपंथी विचारधारा का जय-जयकार भले ही होता हो, पंडितजी को पक्का विश्वास था कि अंततः अपने अंतर्विरोधों के कारण ये सभी विचारधाराएं असफल होंगी। अत: तत्कालीन वातावरण से प्रभावित न होते हुए राष्ट्र के दूरगामी उज्ज्वल भविष्य का चित्र सामने रखकर उन्होंने इस भूमि में आविर्भूत हुए दर्शन की ही अभिव्यक्ति एवं समर्थन साहस के साथ किया। यह देखने के लिए कि भविष्य के बारे में उनका अनुमान आज सच हो रहा है, दुर्भाग्य से वे हमारे बीच नहीं हैं। फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि उनके दर्शन की विजय की अपरिहार्यता धीरे-धीरे प्रकट होने लगी है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

श्री जयप्रकाश नारायण ने कहा था, "यूरोप में कम्युनिज्म असफल रहा हो तो यह दावा भी नहीं किया जा सकता कि समाजवाद बहुत सफल रहा है।"

संयोग की बात है कि जयप्रकाशजी की यह टिप्पणी भारत के समाजवादी दल पर भी लागू होती है। अतः जयप्रकाश जी ने आगे चलकर ऐसा असंदिग्ध शब्दों में घोषित किया, "कुछ वर्ष पूर्व मैंने स्पष्ट रूप से देखा है कि आज हम जिसे समाजवाद मानते हैं वह मानव मात्र को स्वतंत्रता, समता, बंधुता एवं शान्ति के उदात्त ध्येय की ओर ले जाने में असमर्थ है। इतना अवश्य निश्चित है कि अन्य किसी भी प्रचलित सामाजिक तत्त्वज्ञान की अपेक्षा इन लक्ष्यों के अधिक पास तक मानवजाति को ले जाने का आश्वासन समाजवाद से मिलता है। किंतु मैं इस निष्कर्ष पर आ पहुंचा हूं कि समाजवाद का रुपांतर जब तक सर्वोदय में नहीं होता, ये लक्ष्य उसकी पहुंच से बाहर ही रहेंगे और हम लोग स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद जैसी हताशा का कटु अनुभव कर रहे हैं, आने वाली पीढ़ी कोसमाजवाद के बारे में भी वही अनुभव आयेगा।"

पहले महानिर्वाचन के पूर्व सत्ताधारी दल के विकल्प के रूप में सामने आया समाजवादी दल आज कहीं अस्तित्व में भी नहीं है, यह बात अपने में पर्याप्त मुखर है।

इस भूमि में जड़ें न रखने वाली विचारधारा एवं उसके समर्थक व्यक्तिशः कितने ही श्रेष्ठ क्यों न हों, इस देश में बहुत समय तक टिक नहीं सकते। समाजवादी दल की आज की अवस्था इसकी साक्षी [२७] है। किन्तु पंडित जी ने जब राजनीतिक कार्य आरंभ किया, उस समय समाजवाद की जन-मानस में बनती जा रही प्रतिमा को ध्यान में लेते हुए समाजवाद की सस्ती कल्पना को अनायास स्वीकार करने का मोह उन्होंने टाला। उनकी प्रकृतिसिद्ध श्रेष्ठता इसी में स्पष्ट दिखाई देती है।

भारत में कम्युनिज्म की कहानी भिन्न है। समाजवादी दल की भांति कम्युनिस्ट दल पूर्णतः बिखर तो नहीं गया है, किंतु उसकी अनेक धज्जियां अवश्य उड़ी हैं। सरकार के प्रतिवेदन को यदि सच माना जाये तो अकेली नक्सलवादी विचारधारा के अनुयायियों के २६ गुट देश में हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि कम्युनिज्म के अनुयायियों के ३० से अधिक गुट देश में हैं। संपूर्ण विश्व को एक छत्र के नीचे लाने की आकांक्षा रखने वाले कम्युनिस्ट दल की भारत में ऐसी दुर्दशा हो, यह ऊपर से देखने में आश्चर्यजनक लगता है, किंतु वह है स्वाभाविक ही। भारत में सभी तत्त्वज्ञानों को सदैव पूरा अवसर मिला है। किंतु इस बात को ध्यान में लेना होगा कि इस दल की स्थापना ही वास्तव में विश्व कम्युनिस्ट दल की भारतीय शाखा के रूप में हुई और प्रारम्भ से ही रूस की विदेश-नीति के अनुकूल नीतियों पर चलना ही इस दल के भाग्य में लिखा है। भारत में कम्युनिस्ट नेताओं को स्थानीय परिस्थिति के प्रकाश में दल की रीति-नीति निर्धारित करने की छूट होती तो उनकी यह दुर्दशा इतने शीघ्र न हुई होती। कारण, दल के पास समर्थ नेतृत्व एवं समर्पित कार्यकर्त्ता तो थे, किंतु रूस के पिछलग्गूपन के कारण वे स्वतंत्रतापूर्वक अपनी रीति-नीतियों को निर्धारित नहीं कर सके।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दीनदयाल जी ने सार्वजनिक जीवन जिस समय प्रारंभ किया, तब जागतिक स्तर पर कम्युनिज्म लगातार बढ़ता जा रहा था। दूसरे विश्व-युद्ध में विजयी राष्ट्रों में रूस भी एक था और उसकी बाद की रचना में पूर्व यूरोप के सभी देश 'रूसी संगीनों' के प्रभाव में आ गये थे। इन सभी देशों में रूसी टैंकों की सहायता से कम्युनिस्ट सरकारें स्थापित हो गयी थीं। उसके बाद लगभग तुरंत ही विश्व में सबसे अधिक जनसंख्या वाला चीन भी कम्युनिस्ट हो गया। विश्वयुद्ध के बाद के काल में तृतीय विश्व के परतंत्र देशों में चल रहे स्वतंत्रता-संग्रामों को रूस का समर्थन प्राप्त हो रहा था और परिणामस्वरूप वहां के राष्ट्रवादी लोगों की सहानुभूति रूस की ओर स्वाभाविक रूप से झुक रही थी। (आगे चलकर अमरीका के एकदम सन्निकट क्यूबा में अपनी सत्ता स्थापित करने में कम्युनिस्टों को सफलता मिली।) विश्वस्तर पर रूस को मिले इस चौंधिया देने वाले यश के कारण भारत में भी कम्युनिस्ट दल की प्रतिष्ठा उन दिनों बढ़ गयी। किन्तु स्टालिन की मृत्यु के बाद धीरे-धीरे कम्युनिस्ट जगत् में विभाजन प्रारंभ हो गया। पूर्व यूरोप के कम्युनिस्ट शासित देशों में किसानों और श्रमिकों के विद्रोह रूसी टेंकों की सहायता से कुचल दिये गये, किंतु इन सभी देशों में रूसविरोधी असंतोष बना रहा और आगे चलकर पोलैण्ड की घटना के रूप में विश्व को भी वह स्पष्ट देखने को मिला। पश्चिमी यूरोप में कम्युनिस्ट दलों ने मार्क्सवाद के मूल सिद्धान्त से क्रमशः अपना नाता तोड़ना आरंभ किया और रूस की प्रभुता को उखाड़ फैंकने का निश्चय किया। एक केंद्रित कम्युनिस्ट जगत् का सपना टूट गया। चीन के माओ और यूगोस्लाविया के टीटो ने रूस के विरुद्ध खुल्लमखुल्ला भूमिका ली। कम्युनिस्टशासित देशों के बाहर सबसे बड़ा कम्युनिस्ट दल इटली में था। उसके नेता ग्रेम्स्की तथा तोग्लियात्ती ने इटालियन पार्टी की स्वायत्तता की घोषणा की और यही हवा पश्चिमी देशों के कम्युनिस्ट दलों में भी घुस गयी। इसी को 'यूरो कम्युनिज्म' कहा जाने लगा। किसी भी कम्युनिस्ट देश में मार्क्सवाद पर आचरण नहीं हो सका। अतः एक प्रकार से लोगों का भ्रम टूटने लगा। इतालवी कम्युनिस्ट दल के प्रमुख एन्रिक बर्लिंग्जर तथा स्पेनिश कम्युनिस्ट दल के कैरिल्लो के हाल के वक्तव्य इस भ्रमभंग के साक्षी हैं; और अब तो चीन के कम्युनिस्ट दल ने भी मार्क्सवाद को भारी धक्का दिया है। चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति ने अपनी १२वीं बैठक में (दल के तीसरे खुले अधिवेशन में) दिनांक २०/१०/१९८४ को एकमत से एक आलेख स्वीकार किया। इस आलेख का नाम था– 'A decision of the Central Communist Party of China on Reforms of the Economic Structure'. इसमें जो निर्णय थे वे मार्क्सवाद की लीक से हटने के सुस्पष्ट आधार माने जायेंगे। मार्क्सवाद को धीरे-धीरे अन्तिम विदा कहने का विचार तो कहीं चीनी कम्युनिस्ट नेताओं के मन में नहीं है, ऐसा संदेह इस आलेख के कारण सर्वत्र उत्पन्न हो गया था। तभी ७-१२-१९८४ को चीनी कम्युनिस्ट दल के मुखपत्र 'पीपुल्स डेली' ने सारे संसार को चकित कर दिया। उसके संपादकीय का कुछ अंश नमूने के रूप में देखने से पूरे संपादकीय का आशय क्या था, समझ में आ सकेगा–

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"मार्क्स की मृत्यु १०१ वर्ष पूर्व हुई और अपने ग्रंथ उसने उससे भी पूर्व लिखे थे। इन ग्रंथों में कुछ उस समय केवल अनुमान पर आधारित थे और बाद में उनमें भारी परिवर्तन हो गया। मार्क्स के कुछ अनुमान निश्चय ही दोषपूर्ण थे। ऐसी अनेक बातें थीं जिन्हें मार्क्स, एंजेल्स अथवा लेनिन ने भी अनुभव नहीं किया तथा जिनके संपर्क में वे कभी आये ही नहीं। अतः उस समय उन्होंने जो कुछ लिखा, उसमें अपनी आधुनिक समस्याओं के उत्तर खोजना व्यर्थ है। अपने अध्ययन में इस बात को हमें सदा ध्यान में रखना होगा।"

"मार्क्स के वक्तव्यों का आधार लेकर आधुनिक संदर्भ के विचारों पर सीमाएं डालने का प्रयास करने से इतिहास का विकास अवरुद्ध हो जायेगा।"

इससे स्पष्ट हो जाता है कि मार्क्सवाद से विच्छेद कर लेने की कम्युनिस्ट पार्टी तैयारी कर रही है। किंतु जब दीनदयाल जी ने अपने दल की रचना का प्रारंभ किया उस समय कम्युनिज्म की जगमगाहट इतनी प्रखर थी कि अनेक लोगों के मन में संदेह पैदा हो गया कि पंडित जी का नया दल वैचारिक स्पर्धा में कैसे टिक पायेगा? समय ने यह दिखा दिया है कि उस परिस्थिति में भी अविचल मन से अपने भारतीय दर्शन पर स्थिर दीनदयाल जी ने वामपंथी विचारधाराओं की पराजय की जो भविष्यवाणी की थी, वह अब प्रत्यक्ष में आ गयी है।

महाराष्ट्र के श्रेष्ठ समाजवादी विचारक एवं मार्क्सवाद के अधिकारी भाष्यकार श्री पां०वा० गाडगिल ने अपने सद्यः प्रकाशित 'वर्गकलह या संसदीय समाजवाद' ग्रंथ में कार्ल मार्क्स तथा जे०एम० कीन्स—दोनों महान किन्तु परस्पर विरोधी विचारधाराओं के समर्थकों की सीख के आधार पर 'साम्यवादी' लोगों का आह्वान किया है कि अपने पिटे-पिटाये मार्ग की विचारधारा के बारे में वे फिर से विचार करें। यह आह्वान समयोचित ही है; मानसिक धैर्य दिखाने के लिए वे अभिनन्दन के पात्र हैं। किन्तु यह बात भी ध्यान में लेने योग्य है कि ऐसे श्रेष्ठ विचारक भी उस प्रारंभिक काल में वामपंथियों को राजनीतिक सफलता के कारण चौंधिया गये थे।

हिन्दुस्तान में कुछ समय तक लोकप्रिय रहे समाजवाद एवं कम्युनिज्म के अतिरिक्त विशेष प्रचलित न रही कुछ अन्य वामपंथी विचारधाराओं का भी पंडित जी ने सूक्ष्मता से अध्ययन किया था। 'मार्क्स एंड दीनदयाल' प्रबंध में ठीक ही कहा गया है कि "सार्त्र और हर्बर्ट मार्क्यूज द्वारा हाल ही में प्रतिपादित 'न्यू लेफ्ट' के विचारों सहित सभी पश्चिमी विचारधाराओं से दीनदयाल जी भली-भांति परिचित थे, यह बात विशेष रूप से ध्यान में लेना आवश्यक है।

मार्क्सवाद के अतिरिक्त (एडवर्ड बर्सटीन से लेकर टीटो तक के सभी पुनर्विचारवादियों सहित) रॉबर्ट ओवेन के प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष सामाजिक प्रयोग, सीमोन के सिद्धांत, ग्रैक्कस बाक्फ का आक्रामक समाजवाद, ओ कोनेर का कृषि-समाजवाद, ओ क्रियेव का गरीबों का समाजवाद, ब्लांकी का 'अल्पसंख्यकों की विवेकबुद्धि' का सिद्धांत, लुई ब्लैंक का उत्क्रांतिपरक समाजवाद, शुल्ज-डेलिटजेक का 'स्वावलंबी सिद्धांत' और जर्मन त्रिमूर्ति—ब्रूनी ब्रोअर,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मोजेस हेस और कार्ल ग्रेन का 'सच्चा समाजवाद' आदि सभी विचारों की अच्छी जानकारी पंडित जी को थी... उन्होंने लासेले, सिसमोंडी, लैमेनाइज तथा प्रौढन के विचारों का भी अध्ययन किया था। मार्क्सपूर्व और बाद के सभी यूरोपीय विचारप्रवाहों का गुणदोषात्मक विश्लेषण उन्होंने किया था। उसमें पूँजीवाद से लेकर अराजकतावाद तक सबका और सभी प्रकार के 'समाजवादों' का समावेश था।"

इसके अतिरिक्त डा. फ्राइड के 'मनोविश्लेषणवाद', डा० वाटसन के 'आचरणवाद' तथा इन दोनों की आगे चलकर निर्मित शाखाओं की उन्हें पूरी जानकारी थी।

पंडित जी के राजनीति में प्रवेश से पूर्व पश्चिम की विचारधाराओं से मुक्त एवं भिन्न विचारधारा हिंदू दर्शन के आधार पर महात्मा गांधी ने प्रस्तुत की थी। उन्होंने कहा था—

"हमसे मूलतः भिन्न धारणाओं के आधार पर पश्चिम के समाजवाद एवं साम्यवाद की रचना हुई है। मानव स्वभाव में अनिवार्यतः स्वार्थ वृत्ति की विद्यमानता उनमें से एक धारणा है। मुझे वह स्वीकार नहीं। कारण, मनुष्य तथा पशु में महत्त्वपूर्ण अन्तर यही है कि मनुष्य अपने अंदर के आत्मतत्त्व की पुकार को सुन सकता है। उसमें तथा पशु में जो समान विकार होते हैं उन पर वह विजयी हो सकता है। स्वार्थ एवं हिंसा पशु-स्वभाव के गुण होते हैं। मनुष्य के अमर आत्म-तत्व पर ये लागू नहीं होते। अतः मनुष्य इनसे ऊपर उठ सकता है। आत्मसंयमपूर्वक की गयी प्रदीर्घ तपस्या की पृष्ठभूमि में हिंदू धर्म द्वारा अन्वेषित यह सत्य हिंदुत्व की मूल अवधारणा है।"

इन दोनों विचारधाराओं के बारे में गांधीजी के ये मत पश्चिम की सभी वामपंथी विचारधाराओं पर भी लागू होते हैं।

भारतीयों ने वाद('इज्म')को कभी महत्त्व नहीं दिया था। प्रत्येक 'इज्म' विचारों की एक बंद पुस्तिका होती है। गांधी जी की परंपरा में पले आचार्य कृपलानी ने अपनी 'द गांधियन वे' पुस्तक में लिखा है:—

"कोई भी वाद जिनके नाम पर चल जाता है या प्रचारित किया जाता है, वह उन लोगों की पहल के कारण नहीं, अपितु उनके अनुयायियों द्वारा मूल विचार पर डाली गयी सीमाओं का परिणाम ही होता है। नव-निर्माण-क्षमता की प्रज्ञा न होने के कारण अनुयायी एक प्रणाली निर्धारित कर लेते हैं और संगठित हो जाते हैं। ऐसा करते समय मूल तत्त्वों को वे साँचाबंद कर लचीलेपन से रहित कठोर एवं एकांगी स्वरूप दे देते हैं। यौवन की सूचक स्फूर्ति एवं तालमेल बिठाने की क्षमता के मूल सद्गुण को वे छीन लेते हैं।"

किंतु गांधीजी के शिष्यों ने उनकी विचार-प्रणाली को एक 'वाद' बना डाला[२८]। वास्तव में गांधीजी कहा करते थे, 'वाद यानी विवाद', विवाद का अर्थ बिखराव (विघटन), अतः मैं चाहता हूँ कि 'गांधीवाद' की संज्ञा प्रचलित न हो। २० फरवरी, १९४० को ढाका में मलिकंदा बाग में गांधीसेवा संघ में अखिल भारतीय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अधिवेशन को संबोधित करते हुए महात्माजी ने यही विचार आग्रहपूर्वक रखा था। किंतु उनके अनुयायियों ने इस शब्द का योजनापूर्वक उपयोग कर लिया।

प्रथम महानिर्वाचन के समय और बाद में आज तक भी गांधीवाद शब्द के जादू का कांग्रेस ने भरपूर उपयोग किया है। गांधीजी के बलिदान के कारण इस संज्ञा को और भी अधिक महत्त्व और आकर्षण प्राप्त हो गया था। गांधीजी की प्रेरणा से काम करने वाले लोगों के दो वर्ग थे— एक राजनीतिक लोगों का और दूसरा रचनात्मक कार्य करने वालों का। पहले वर्ग के लोग गांधीजी के जीते जी उनकी इच्छा के विरुद्ध देश के विभाजन का निर्णय कर बैठे और अपनी मृत्यु से एक दिन पूर्व गांधी जी द्वारा दिया गया यह सुझाव कि कांग्रेस को विसर्जित कर लोकसेवक संघ स्थापित किया जाय, इस वर्ग के लोगों ने ठुकरा दिया। तथापि उनके द्वारा की गयी महात्मा जी की इस अवज्ञा पर जनता ने विशेष ध्यान नहीं दिया।

(मुस्लिम तुष्टीकरण के अतिरिक्त 'हिमालयी भूल', भगतसिंह-राजगुरु-सुखदेव को दी गयी फाँसी के बारे में अपनायी गयी भूमिका, कांग्रेस के साथ बीच-बीच में गांधीजी के अधिक होते गये मतभेद, खरे-नरीमन- सुभाष आदि के प्रकरण और देशविभाजन के प्रश्न पर नेतृत्व द्वारा खायी गयी कलाबाजी जैसी सभी घटनाओं को भी भुलाने के लिए जनता तैयार हो गयी।)

वास्तव में स्वराज्य की प्राप्ति अनेक व्यक्तियों एवं व्यक्ति-समूहों के प्रयत्नों का संकलित फल है। प्रत्यक्ष में दृष्टिगोचर होने वाली कांग्रेस की स्थापना की पृष्ठभूमि जन-मानस में बनाने के लिए कितने ही व्यक्तियों एवं संस्थाओं ने परिश्रम किये हैं। 'द ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन इन बंगाल' (१८५१) के डा. राजेंद्र लाल मित्र तथा रामगोपाल घोष; 'बाम्बे एसोसिएशन' के दादा भाई नवरोजी, जगन्नाथ शंकर शेठ, मंगलदास नाथू भाई, एवं नवरोजी फरदूनजी; 'ईस्ट इंडिया एसोसिएशन;' 'द हिंदू' के एम. वीरराघवाचारियर, रंगैया नायडू, जी. सुब्रह्महण्य अय्यर तथा एन. सुब्बाराव पंतलू; 'पूना सार्वजनिक सभा' के सार्वजनिक काका, के.एल. नूलकर तथा एस.एच. चिपलूणकर; 'सोशल कांफ्रेंस' के न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानडे; 'इंडियन एसोसिएशन' के सुरेंद्रनाथ बनर्जी एवं आनंद मोहन बोस; 'मद्रास महाजन सभा;' 'बाम्बे प्रेसीडेन्सी एसोसिएशन' के फीरोजशाह मेहता, का. त्र्यं. तैलंग तथा बद्रुद्दीन तैयबजी; उसी प्रकार मद्रास की डा. एनी बेसैण्ट के 'थिओसोफिकल कन्वेन्शन' के सत्रह कार्यकर्ता; सब वस्तुतः कांग्रेस के अग्रदूत थे। किंतु आज के नेतृत्व का प्रयास यही है कि इनकी स्मृतियों को भुला दिया जाय। उसी प्रकार आज की पीढ़ी को ब्रह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज, थिओसोफिकल सोसाइटी, रामकृष्ण मिशन आदि संस्थाओं द्वारा इस क्षेत्र में किया गया कार्य बिल्कुल भी ज्ञात नहीं है।

उदारवादी (लिबरल) नेता, देश के क्रान्तिकारी लोग, प्रथम महायुद्ध के समय विदेशों में प्रयत्नशील रहे क्रान्तिकारी, आजाद हिंद सेना, विद्रोही नौसैनिक, अन्य राजनीतिक दलों के कार्यकर्त्ता, सप्रू-जयकर जैसे मध्यस्थ, प्रवासी भारतीयों की अनमोल सेवा करने वाले सी.एफ. एण्ड्र्यूज जैसे लोग तथा स्वयं इंगलैण्ड में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सर्वत्र प्रचार करने वाले, सभी वस्तुतः इस श्रेय के भागीदार हैं। किंतु सभी गैरकांग्रेसी सक्रिय कार्यकर्ताओं को विस्मृति के गर्त में धकेल देने का प्रयास हुआ। कुछ क्रान्तिकारियों का योगदान इतना तेजस्वी था कि उनके बारे में ये सभी प्रयास विफल रहे, किंतु अन्य लोगों के बारे में यह स्थिति नहीं थी। उदाहरण के लिये इंग्लैण्ड में भारत की स्वतंत्रता के लिए प्रचार एवं प्रयास करने वाले अपने मित्रों के नाम कितने लोगों को आज स्मरण हैं? गाय आल्फ्रेड, जॉर्ज डेविड यूल, आल्फ्रेड वेब, सर विलियम वेडरबर्न, सर हेनरी, जे.एस. कॉटन, चार्ल्स ब्रैडले, विलियम डिग्बी, डा एच.वी. रदरफोर्ड, डा जी.बी. क्लार्क, जे.के. हार्डी, लार्ड सोरेन्सन, लार्ड फैनर ब्रॉकवे आदि लोग इस श्रेणी में आते हैं। सत्ताधारियों की ऐसी प्रवृत्ति के कारण स्वतंत्रता संग्राम का अधिकृत इतिहास अधूरा, विकृत एवं असंतुलित हो गया है।

इस प्रचार के कारण जन-मानस में कांग्रेस की यह प्रतिमा बनती गयी कि अकेली कांग्रेस ने ही अपने पराक्रम से स्वराज्य दिलाया है। तभी महात्मा गांधी की हत्या हो गयी और परिणामस्वरूप गांधीवाद की संज्ञा का प्रभाव बढ़ गया। कालांतर में यद्यपि यह सिद्ध हुआ कि ये राजनीतिक लोग व्यवहार में गांधी जी के आदर्शों से अधिकाधिक दूर जा रहे हैं, दीनदयाल जी द्वारा जनसंघ की बागडोर सम्भाली जाते समय जनता का यह मोहभंग प्रारंभ नहीं हुआ था। उलटे जनता के विश्वास-प्राप्त पटेल, नेहरू,राजेन्द्र बाबू, राजा जी एवं प्रत्येक प्रान्त के कांग्रेस के कर्ताधर्ताओं के कारण कांग्रेस सभी प्रांतों में अजेय दिखाई दे रही थी। लोकप्रिय नेताओं का इतना बड़ा एवं व्यापक संच अन्य किसी भी दल के पास नहीं था। इसके अतिरिक्त कुशल प्रशासक के नाते सर विश्वेश्वरैया, सी.पी. रामस्वामी अय्यर, टी. माधवराव अथवा मिर्जा इस्माइल की सानी रखने वाले भले ही न सही, किन्तु उनका स्मरण दिलाने वाले कुछ मंत्री भी उस समय कांग्रेस में थे। प्रत्यक्ष राजनीति में उलझे नेताओं के साथ ही जन-मानस पर विशेष प्रभाव रखने वाले रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं [२९] एवं राजनीतिक लोगों में तब तक द्वैत प्रारंभ नहीं हुआ था। आचार्य विनोबा भावे के नेतृत्व में ये सब लोग एकत्रित थे और उनकी तपस्या का लाभ भी कांग्रेस को ही मिल रहा था। यह सच है कि सरकारी धन एवं प्रश्रय के कारण इन कार्यकर्ताओं की गुणवत्ता कम हो गयी है और उनकी छवि भी पहले जैसी उज्ज्वल नहीं रही [३०]। श्री गुलजारीलाल नंदा के 'भारत सेवक समाज' की भांति गांधीपंथी रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं का जन-मानस में अवमूल्यन हो गया है [३१]। किन्तु स्वराज्य-प्राप्ति के बाद के समय में लोगों के मनों में इन कार्यकर्ताओं के प्रति भूदान एवं तत्सम अन्य आंदोलनों से जुड़ा भाव था। तब इसकी कल्पना करना भी संभव नहीं था कि आपातकाल में इनमें से कुछ लोगों द्वारा विवशता की भूमिका अपना ली जायेगी। गांधीजी द्वारा निर्मित एक-एक रचनात्मक कार्यकर्ता जनता को दीपस्तंभ प्रतीत हो रहा था और ऐसे कार्यकर्ताओं की संख्या भी पर्याप्त थी। दादा धर्माधिकारी, काका कालेलकर, अप्पासाहेब पटवर्धन, जाकिर हुसैन, वियोगी हरि, जे.सी. व भारत कुमारप्पा, स.ज. भागवत, आचार्य भिसे, रविशंकर महाराज, साने गुरुजी, आचार्य जावडेकर, टी.एस. अविनाशलिंगम्, अण्णासाहेब सहस्रबुद्धे, गोपबंधु चौधरी, नवकृष्ण चौधरी, आर्यनायकम् दंपति, ठक्कर बाप्पा,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बाबा राघवदास, मीराबेन, सरला बेन, प्रेमा कंटक, सुशीला पै, बीबी अमतुस्सलाम, अमलप्रभा दास, बालू भाई मेहता, बबलभाई मेहता, जी. रामचन्द्रन, केलप्पन आदि लोगों के नि:स्वार्थ कार्य का जनता पर कितना प्रभाव था, नयी पीढ़ी कल्पना भी नहीं कर सकती। इन सब की तपस्या का लाभ उस समय कांग्रेस के खाते में संचित हो रहा था।

ऐसे व्यक्तित्वशाली कार्यकर्ताओं का नये दल के पास होना असंभव ही था। ऐसे कार्यकर्ताओं की मालिका निर्मित करने के कठिन कार्य को प्रारंभ करना था। जनसंघ के प्रारंभिक काल में यह कमी कांग्रेस की तुलना में सभी विरोधी दलों को अनुभव हो रही थी। किन्तु उनमें से कुछ चतुर दलों ने गांधीजी एवं गांधीवाद शब्दों पर अपना भी उत्तराधिकार जताते हुए इस कमी को पूरा करने का प्रयास किया। इनमें से अधिकतर कांग्रेस से टूट कर निकले हुए थे, अत: उनके प्रयासों को कुछ मात्रा में सफलता भी मिली। जनसंघ के बारे मे वह भी संभव नहीं था। और गांधीवाद, यद्यपि एक चलता सिक्का था, उसे स्वीकार न करने का ही निर्णय पंडित जी ने किया। एक तो स्वयं गांधीजी के कथनानुसार 'गांधीवाद' शब्द उन्हें गलत प्रतीत हो रहा था। वैसे देखा जाये तो महात्मा जी की विचार-प्रणाली के साथ उनका कोई मतभेद नहीं था, किन्तु पंडितजी को लगता था कि 'वाद' संज्ञा के कारण गांधी-प्रणीत विचारों की प्रवाहिता कुंठित होती है और ऐसा करना उचित नहीं होगा। महात्मा जी ने अपने आपको हिंदू तथा सनातनधर्मी कहलाने में धन्यता अनुभव की थी। सनातन धर्म के शाश्वत सिद्धान्तों के प्रकाश में आधुनिक समस्याओं का समाधान करने का गांधीजी का प्रयास ही तथाकथित गांधीवाद है। अत: गांधीजी के साथ मूलभूत मतभेद होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता था। किन्तु पंडितजी सोचते थे कि उनकी विचार-पद्धति को 'वाद' की सीमा में बिठाये जाने के कारण भविष्य में उसकी उपादेयता समाप्त हो जायेगी। उनका विचार था कि 'वाद' की सीमा में न बंधे सनातन धर्म पर आधारित गांधीजी के विचार-प्रवाह को बीच ही में कुंठित न करते हुए नव-नवीन परिस्थिति में, नव-नवीन समस्याओं के नव-नवीन उत्तर खोजने में समर्थ गतिशील विचार-प्रणाली का विकास किया जाये। समाज-रचना धर्मानुकूल हो और धर्म युगानुकूल हो,[३२] इसके लिए यह सब आवश्यक भी था। अत: उन्होंने गांधीवाद का स्वीकार करने का सरल मार्ग त्यागकर गांधीजी की ही भांति सनातन सिद्धान्तों के प्रकाश में नवीन युगधर्म विकसित करने का महान उद्योग प्रारंभ किया।

१६.

यह सच है कि 'धर्म'[३३] की अवधारणा को समझ लेना पश्चिमी लोगों के लिए कठिन है। श्री सी.ई.एम. जोड कहते हैं कि "धर्म की विशिष्ट हिंदू अवधारणा का वर्णन एक झटके में नहीं किया जा सकता।"

न्यायमूर्ति श्री राम जोइस कहते हैं, "धर्म अत्यंत व्यावहारिक आशय प्राप्त संस्कृत शब्द है। इस शब्द का समानार्थी शब्द अन्य किसी भी भाषा में नहीं है। इस

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शब्द की कोई परिभाषा करने का प्रयास भी व्यर्थ है। उसका केवल स्पष्टीकरण किया जा सकता है।"

भगिनी निवेदिता ने कहा है, "धर्म नामक एक अत्यंत विशाल सामाजिक-औद्योगिक-आर्थिक योजना का हिन्दुत्व एक भाग है। अपने आप को हिंदू न कहलाते हुए भी मनुष्य सार्थकता से अपने को धर्म का सेवक बना सकता है।"

इस पार्श्वभूमि में कम से कम हिन्दुओं के लिए सनातन धर्म की अवधारणा समझ लेना कठिन नहीं होना चाहिए। तथापि पश्चिमी भौतिक प्रगति की चकाचौंध के कारण चौंधिया गये आंग्लविद्याविभूषित लोगों में हमारे सनातन धर्म के साक्षात्कार पर आंधारित हर सिद्धान्त को पुराणपंथी एवं प्रतिगामी कहकर उसे दूषण देने का 'फैशन' चल पड़ा है [३४]। इस प्रकार के 'फैशनेबल' एवं सस्ते प्रगतिशील नेता लोगों को आश्चर्य का धक्का देने वाला निम्नलिखित साहित्य दीनदयाल जी के जीवनकाल में भारत में लोकप्रिय नहीं हुआ था।

Fritjof Capra के 'The Tao of Physics' तथा 'The Turning point', Gary Zukav का 'The Dancing Wu Li Masters', Bob Taben का 'Time, Space and Beyond', Paul Davis का 'God and the New Physics', Fred Wolf का 'Taking the Quantum Leep', David Bohm के 'Wholeness and the Implicate Order' तथा 'Quantum Mechanics', Dr. Larry Dossey का 'Space, Time and Medicine', Arthur Young का 'The Reflexive Universe', Izak Bentov का 'The Stalking the Wild Pendulum', Pamela Portugal का 'A Place for Human Beings', Allen Won का 'Incredible Coincidences', Kostler का 'The Roots of Coincidences', Richard Bouk का 'Nothing by Chance', यह सारा साहित्य हाल ही में प्रकाशित हुआ है। अतः पंडित जी के समय में अध्ययन-शून्य प्रगतिशीलता का ही बोलबाला था।

महामहोपाध्याय दत्तो वामन पोतदार ने एक स्थान पर कहा है, "यों तो हजारों वर्षों के अनुभव की छलनी से छनकर निकला हमारा ऋषिप्रणीत सिद्धांत हाल ही में उदित और इन दिनों सफल भी रहे भौतिक विज्ञान से चौंधियाकर एकाएक छोड़ देना हमारे लिए उचित नहीं था। कुछ घटनाएं ऐसी होती हैं कि उनके भले-बुरे परिणाम पर्याप्त समय बीतने के बाद प्रतीत होते हैं। इसलिए तात्कालिक परिणामों पर ही सब कुछ आधारित रखना हानिकर होता है। मानव जीवन उलझा हुआ होता है तथा छोटी-बड़ी, स्थूल एवं सूक्ष्म, अनेक कारणपरंपराएं उसके कार्य के साथ संलग्न होती हैं। स्थूल दृष्टि या विचार रखकर किये गये अनुमान कई बार भ्रम में डालने वाले होते हैं। अधिक समय, अनुभव एवं चिंतन का साथ मिलने पर पहले के ये सभी कच्चे अनुमान छोड़ देने पड़ते हैं और अधिक पक्के प्रतीत होने वाले अनुमानों को स्वीकार करना पड़ता है। यह नहीं कहा जा सकता कि हमने अपनी प्राचीन वैचारिक सम्पदा का सूक्ष्म एवं टिकाऊ परीक्षण किया है। कारण,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हमारी संस्कृति के बारे में अधिक परिचय और ज्ञान प्राप्त होने पर स्वयं पश्चिमी लोगों ने ही प्रशंसा की बातें कहकर हमें हमारा वैभव पुनः दिखा दिया है।"

इसके विपरीत हमारी परानुगामी दैन्य की प्रवृत्ति को कतई न छोड़ने का हमारे अंग्रेजियत के शिकार विद्वानों का निश्चय उनकी दुराग्रही वृत्ति का ही परिपाक माना जाना चाहिए। दुर्भाग्य से इन पश्चिम के मानस-पुत्रों को 'प्रगतिशील' तथा आमूल परिवर्तनवादी आदि मानने की प्रथा उन दिनों थी और आज भी है।

किन्तु ऐसा बहुत देर तक चलना संभव नहीं था। उदाहरण के लिए, 'शरद (Autumn) १९८४ के 'अमेरिकन रिव्यू' अंक में टी.एस. अनन्तु द्वारा दी गयी जानकारी इन लोगों को हक्का-बक्का कर देने वाली ही है। अपने आपको प्रगतिशील कहने वाले इन लोगों को महात्मा गांधी के अमरीकी शिष्य रिचर्ड ग्रेग के सन १९३६ के 'वाल्युण्टरी सिम्पलीसिटी मूवमेण्ट' की क्या जानकारी भी है ? सन १९७६ तक इस आंदोलन की प्रगति कितनी हुई है, इसके बारे में 'स्टैनफोर्ड रिसर्च इन्स्टीट्यूट' द्वारा किये गये सर्वेक्षण का प्रतिवेदन पठनीय है। मैरिलिन फर्ग्युसन ने अपनी 'द एक्वेरियन कान्स्पिरेसी' पुस्तक के प्रारंभ में लिखा है, "एक नेतृत्वहीन किंतु प्रचण्ड संगठन अमरीका में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने के लिए प्रयत्नशील है। उसके सदस्यों ने पश्चिम के विचारों में से कुछ मूलभूत बातों का त्याग किया है और इतिहास का सूत्र भी शायद छोड़ दिया है..... सुधार की अपेक्षा विशाल, क्रांति की अपेक्षा अधिक गहरे और मानव-समाज के सामने नये कार्यक्रम रखने के लिए सहायक होने वाले इस षड्यंत्र ने इतिहास के सबसे तीव्र सांस्कृतिक पुनर्गठन के लिए धमाकेदार प्रारंभ किया है। यह जो हड़कंप मचा देने वाला अमोघ परिवर्तन हमें अपनी तीव्र गति के साथ अपने अंदर समेटता जा रहा है, उसका स्वरूप किसी नये राजनीतिक, धार्मिक, या तात्त्विक व्यवस्था का नहीं है। वह एक नया मानस है—स्तिमित कर देने वाली एक वैश्विक दृष्टि का यह उदय है। विज्ञान की नयी क्रांतिकारी उड़ान और प्राचीनतम तत्त्वद्रष्टाओं द्वारा लिखे गये विचार दोनों का समावेश अपने अंदर कर सके, इतनी विशाल उसकी बाहें फैली हैं।"

यह अद्भुत विश्वदर्शन एकात्मदर्शन की दिशा में बढ़ने वाला है। यह दर्शाने वाली तुलनात्मक तालिका ड्वेन एलगिन ने प्रस्तुत की है।

'वाल्युण्टरी सिम्पलीसिटी मूवमेंट' की इस वैचारिक सफलता का कारण बनी सबसे महत्त्वपूर्ण बात है विज्ञान के क्षेत्र में हुई आधुनिक प्रगति।

पश्चिम में विकसित विज्ञान (साइंस) की उद्धत वृत्ति की पराकाष्ठा पिछली सदी के अंत में एवं इस सदी के प्रारंभ में दिखाई देने लगी। वास्तव में 'साइंस' का अर्थ है ज्ञान। उसके कारण विनम्रता ही प्रकट होनी चाहिए। इस आधुनिक विज्ञान का विचार है कि मनुष्य केवल कुछ परमाणुओं का समूह मात्र है..... उन परमाणुओं के स्तर पर उसका सुख, कर्तव्य स्वास्थ्य सब कुछ निर्भर रहता है। अतः इमर्सन, थोरो, गाँधी जी,सब विज्ञान-विरोधी घोषित किये गये। भारत के साधु-संतों के विश्वदर्शन से सर्वथा भिन्न विश्वदर्शन आधुनिक विज्ञान ने प्रस्तुत किया है। अतः

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सभी साधु महात्मा कालबाह्य घोषित किये गये। किन्तु आगे चलकर 'विज्ञान' ने कुछ नवीन सिद्धांत विकसित किये। इस सदी के पहले २५ वर्षों में सैद्धान्तिक भौतिकी ने दो नये सिद्धांत दिये—सापेक्षवाद का सिद्धांत (रिलेटिविटी थ्योरी) तथा क्वाण्टम यान्त्रिकी। इन दोनों सिद्धांतों से प्रकट होने वाला विश्वदर्शन भारतीय विश्वदर्शन के अधिकाधिक निकट आ रहा है। २०वीं सदी की भौतिकी (फिजिक्स) के दो प्रमुख प्रवक्ताओं के निम्न निवेदन इस दृष्टि से चिंतनीय हैं।

श्री ओपेन हाइमर कहते हैं, "परमाणु-भौतिकी में हुए अनुसंधान द्वारा सोदाहरण स्पष्ट की गयी मानवी आकलन विषयक परिकल्पनाएं ऐसी नहीं हैं जिन्हें सर्वथा अपरिचित, नवीन एवं इससे पूर्व कभी भी न सुनी गयी कहा जा सके। हमारी पश्चिमी संस्कृति में भी उनकी कुछ पूर्वपीठिका है और बौद्धों एवं हिन्दुओं के विचार में तो उन्हें बहुत बड़ा एवं केन्द्रीय स्थान प्राप्त है। नये अनुसंधान में हम पाते हैं पुराने ज्ञान का ही प्रत्यक्ष विशदीकरण, उसे प्रोत्साहन और अधिक ग्राह्य रूप में उसकी रचना।"

प्रो. नील्स बोर ने कहा है, "आणविक सिद्धांत के समानांतर बोध खोजने के लिए हमें ज्ञान-क्षेत्र की उस स्वरूप की समस्याओं की ओर मुड़ना होगा जिनका सामना अस्तित्व के इन महान नाटक में दर्शक एवं अभिनेता की अपनी भूमिकाओं में तालमेल बिठाते हुए बुद्ध और लाओ त्सू जैसे विचारकों को इससे पूर्व ही करना पड़ा है।"

मानव-स्वास्थ्य के बारे में प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण के साथ ज्यों के त्यों मेल खाने वाले नये शास्त्रीय दृष्टिकोण कुछ वैज्ञानिकों ने प्रस्तुत किये हैं। इनमें डॉ. डोसे, डॉ. एजिलाबेथ कुबलर-रॉस, डॉ. माईकेल साबोम, डॉ. रेमण्ड मूडी, तथा डॉ. केनेथ रिंग प्रमुख हैं। इनके द्वारा किये गये शास्त्रीय प्रयोगों में नूतन भौतिक विज्ञान तथा प्राचीन भारतीय कल्पनाओं के साथ सुसंगत कुछ आधुनिक संकल्पनाएं हैं। इनमें संरचना-विकास-क्षेत्र की संकल्पना डॉ. रूपर्ट शेल्ड्रेक के 'बायोलाजी' (जीव-विज्ञान) में दी गयी है। कार्ल प्रिब्रेम तथा डॉ. राबर्ट ओर्नस्टीन के 'ब्रेन रिसर्च' में दी गयी संकल्पना भी इसी दिशा की ओर बढ़ने वाली है। आर्थर यंग के उत्क्रांति के बारे में नये क्रांतिकारी सिद्धांत भी कुछ ऐसे ही हैं। इन सबका परामर्श लेकर इस लेख में आगे कहा गया है—

"निम्नलिखित दो उदाहरणों से स्पष्ट हो जायेगा कि इस नयी दृष्टि में आधुनिक अमरीकी विचार तथा प्राचीन भारतीय अंतर्दृष्टि का कैसा संगम हुआ है:

"अत: विभिन्न पद्धतियों से प्रश्नों का विचार करने वाले सापेक्षता एवं क्वांटम सिद्धांतों का निष्कर्ष एक जैसा दिखाई देता है। दोनों सहमत हैं कि विश्व की ओर एक अविभाज्य संपूर्ण के नाते देखना चाहिए। इस दृष्टि के अनुसार निरीक्षक अथवा उनके उपकरणों सहित विश्व के सभी घटक एक समग्रता में विलीन हो जाते हैं। इस समग्रता में अन्तर्दृष्टि का आण्विक स्वरूप एक सरलीकरण है और कुछ मर्यादाओं के संदर्भ में ही वह सत्य होगा.....।

सभ्यता की बिलकुल प्रारंभिक अवस्था में मनुष्य मूलत: टुकड़ों-टुकड़ों में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सृष्टि का विचार नहीं करता था, बल्कि समग्रता से ही सोचता था। पूर्व की ओर, विशेषत: भारत में, समग्रता का यह विचार आज भी जीवित है। वह इस अर्थ में कि वहाँ तत्त्वज्ञान और धर्म का बल समग्रता पर है और विश्व के स्वरूप का टुकड़ों टुकड़ों में विश्लेषण करने की निरर्थकता उसमें व्यक्त होती है।''—डैविड् बोम, 'होलनेस एंड द इम्प्लिकेट आर्डर' (रौटलेज एंड केगन पाल १९८०)

बाद में स्क्रोडिंजर ने 'जीवन क्या है ?' विषय पर लेखन किया। क्वांटम भौतिकी और जीवविज्ञान का अपने दो प्रदीर्घ निबंधों में मेल बिठाने का प्रयास उन्होंने किया। 'विश्व के बारे में मेरी धारणा' शीर्षक के अन्तर्गत लिखे इन लेखों में उनका पौर्वात्य विचारों से प्रभावित गूढ़वादी स्वरूप व्यक्त होता है। तत्त्वज्ञ विचारक एवं वैज्ञानिक के नाते प्रतिष्ठा का स्थान दिलाने वाले अपने प्रसिद्ध समीकरण की रचना से पूर्व ही १९२५ में उन्होंने लिखा था :

''आप जो जीवन जी रहे हैं वह इस संपूर्ण अस्तित्व का केवल एक भाग मात्र है,इतना कहना पर्याप्त नहीं। एक विशिष्ट अर्थ में वह अंश भी 'संपूर्ण' ही है। यह संपूर्णता ऐसी नहीं है जो एक ही दृष्टिक्षेप में देखी जा सके। यही सत्य ब्राह्मण लोग 'तत्त्वमसि' के पवित्र एवं रहस्यमय सूत्र द्वारा व्यक्त करते हैं। वास्तव में यह सूत्र कितना सरल एवं सुस्पष्ट है,इसी सत्य की अभिव्यक्ति इन शब्दों में भी हुई है कि ' मैं पूर्व में हूँ और पश्चिम में भी; मैं ऊपर भी हूँ और नीचे भी; मैं ही सारा विश्व हूँ।''

स्क्रोडिंजर सचमुच एक सत्यद्रष्टा था, यद्यपि उसका यह द्रष्टापन शायद उसके अपने ही उद्‌गारों की पूर्ति करने वाला हो। कारण, उसने गणित का साधन इसीलिए निर्मित किया कि क्वांटम-पदार्थविज्ञान के शास्त्रज्ञ विश्व को इस दृष्टि से देख सकें। मेरे विचार में यह प्रतिपादन कि 'मैं ही सम्पूर्ण विश्व हूँ' क्वांटम विचारप्रणाली का प्राथमिक आधारभूत प्रमेय है। एक ही मन अपना निरीक्षण करता है और अपनी विभिन्न अवस्थाओं में विरोधाभासों को स्वीकार करता है, यही आशय मैं उसमें देखता हूँ। जो भी अस्तित्व है,उसका क्वांटम की उड़ान के साथ समन्वय किया जाता है।

स्क्रोडिंजर द्वारा स्वीकृत संपूर्णता की भूमिका को क्वाण्टम सोलिप्सिज्म कह सकते हैं। सोलिप्सिज्म (अहंमात्रवाद) के अनुसार हम स्वयं ही एक मात्र वस्तु हैं, जिसका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और परखकर जिसके अस्तित्व का विश्वास किया जा सकता है। अन्य कोई भी बात सुनिश्चित नहीं मानी जा सकती। इस प्रकार क्वांटम अहंमात्रवाद के अनुसार सब कुछ आप पर ही निर्भर है। सारा विश्व का आप ही निर्माण करते हैं और आप ही विश्व होते हैं।''—फ्रेड एलन वुल्फ, 'टेकिंग द क्वांटम लीप' (हार्पर एंड रो १९८१)

आधुनिक विज्ञान द्वारा वर्जित किन्तु प्राचीन दर्शन द्वारा स्वीकृत सिद्धांत—''हम प्रकृति के साथ एकरूप हैं'', 'स्वयं संगठित होने वाली व्यवस्थाओं के सिद्धांत' को विकसित करने वाले नोबेल पुरस्कार-विजेता बेल्जियन शास्त्रज्ञ इल्या प्रिगोजिन ने निष्कर्ष रूप में फिर से रखा है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आइन्स्टीन का निम्न उद्धरण चिंतनीय है:

"हम जिसे 'विश्व' कहते हैं, उस संपूर्णता का मनुष्य आकाश एवं काल द्वारा सीमित एक अंश होता है। अन्य लोगों से भिन्न विचार एवं भावनाएं रखने वाले 'मैं' के नाते वह अपने बारे में जो भी अनुभव करता है, वह वास्तव में उसके बोध को हुआ एक प्रकार का विभ्रम होता है। यह विभ्रम हमारे लिए एक प्रकार से कारागार ही होता है। अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं, और निकट के प्रतीत होने वाले थोड़े से लोगों के प्रति ममता के साथ वह हमें बाँधे रखता है। सभी जीव प्राणियों और सुन्दरता से संज़ी-सँवरी प्रकृति तक अपनी सहानुभूति की कक्षाओं का विस्तार करते हुए इस कारागृह से अपने आपको मुक्त करवाना ही हमारा कर्तव्य होना चाहिए। यह पूर्णत: साध्य होने वाली बात नहीं, किन्तु इस उद्देश्य के लिए प्रयत्नशील रहना ही मुक्ति का एक भाग एवं आंतरिक अमरता के आश्वासन का आधार होता है।"

अत: यह अलग से कहने की आवश्यकता नहीं कि एकात्म मानव दर्शन का संदेश भी इसी स्वरूप का है। इस विषय पर मनोविज्ञान का अत्याधुनिक अभिप्राय भी विचारणीय है।

मांट्रियल मैकगिल विश्वविद्यालय के डा० बर्नार्ड ग्राड के तथा 'अमरीका होलीस्टिक हैल्थ एसोसिएशन' के निष्कर्षों और कुछ अतीन्द्रिय चिकित्सकों (साइकिल हीलर्स) द्वारा किये गये प्रत्यक्षीकरणों के कारण पश्चिम में पुनर्विचार आरम्भ हो गया है। अमरीका के इन्गो स्वान, एम०एच० टेस्टर, रोलिंग थंडर, हेनरी मॉडेल, रूस के विक्टर क्रिवोरोटोव, इंग्लैंड के हैरी एडवर्ड्स, ब्राजील के एरिगो, फिलीपाइन्स के फेलीसा मकानास तथा जोसेफीना सीसन आदि 'साइकिक हीलर्स' ने पश्चिमी जगत् में तहलका मचा दिया है।

अमरीकी वैज्ञानिक डा० राबर्ट बेकर का निरीक्षण है– "...पृथ्वी के चुबंकीय क्षेत्र में सूर्य, चन्द्र एवं ग्रहगोलों के कारण परिवर्तन होते रहते हैं। इन सबका परिणाम हमारी स्नायुप्रणाली और 'तैजस देह' की आत्मिक प्रभा एवं उसके प्रकाशवलय पर होता है।"

डा० लिओनार्ड रेबिट्ज भी लगभग इसी मत के हैं।

सन १९५६ में राबर्ट ओपेनहाइमर ने चेतावनी दी थी कि, "जो पदार्थ-विज्ञान (भौतिकी) अब अस्तित्व में ही नहीं है तथा कालबाह्य हो गया है, उसके आधार पर अपनी रचना करना मनोवैज्ञानिकों का सबसे बड़ा प्रमाद होगा।"

प्रसिद्ध अमरीकी वैज्ञानिक कार्ट रोजर्स युवा मनोवैज्ञानिकों का आह्वान करते हैं, "...यह संभव है कि हमारी पंचज्ञानेन्द्रियों की कक्षा के बाहर एक नियमबद्ध सत्ता है जिसमें वर्तमान, भूत और भविष्य आपस में हिलमिल गये हों। वहाँ देश-बाधा न हो और काल लुप्त हो गया हो। उसे जान लेने का हेतुत: हठ करने की अपेक्षा केवल तटस्थता से प्रेक्षक की भूमिका रखकर ही उसे देखा तथा जाना जा सकता है। ऐसी सत्ता की संभावनाओं की खोज करने का साहस दिखाने वाले शायद बहुत थोड़े लोग होंगे। मनोविज्ञान द्वारा उपस्थित यह एक अत्यंत उत्तेजक चुनौती है।"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यह तो असंदिग्ध शब्दों में कहा जा सकता है कि आधुनिक काल में अनेक शास्त्रज्ञों के साक्षात्कार मानवता को एकात्म मानवदर्शन की दिशा में ले जाने वाले हैं। आज के विज्ञान के निष्कर्ष हमारे प्रदर्शनात्मक प्रगतिशील (फैशनेबल प्रोग्रेसिव) नेताओं की घोषणाओं से दूर तथा एकात्म मानवदर्शन के निकट के हैं।

ये साक्षात्कार केवल गैरकम्युनिस्ट देशों के शास्त्रज्ञों के ही नहीं हैं, कम्युनिस्ट शास्त्रज्ञ भी धीरे-धीरे इसी दिशा में बढ़ रहे हैं।

भारतीय साहित्य एवं तत्त्वदर्शन के बारे में रूस में हो रही उत्क्रान्ति सबके ध्यान में है। वेद, उपनिषद्, रामायण-महाभारत आदि ग्रंथों का रूस में अध्ययन भी प्रारम्भ हो गया है। एकदम आधुनिक विचार में मास्को विश्वविद्यालय के सह-प्राध्यापक (एसो०प्रोफे०) वी०एस० कोस्त्युशेन्कोव द्वारा प्रकाशित तीन ग्रंथों ने भारतीय विद्वानों का ध्यान विशेषतः आकर्षित किया है। उन्होंने सन् १९७० में श्री अरविंद तथा सन् १९७७ में स्वामी विवेकानन्द पर ग्रंथ प्रकाशित किये। तब से स्वामी विवेकानंद को रूस में अधिकाधिक प्रतिष्ठा मिलने लगी और उसके फलस्वरूप भारतीय कम्युनिस्ट भी विवेकानंद को मानने लगे हैं। लेखक ने हाल ही में प्रकाशित अपने 'द क्लासिक वेदांत एण्ड निओ-वेदांतिज्म' ग्रंथ में उपनिषदों से लेकर डा० राधाकृष्णन तक के भारतीय तत्त्वज्ञान का विश्लेषण किया है। अतः इसमें संदेह नहीं कि भारत के कम्युनिस्टों को भी इस विषय में अपने आज तक के पूर्वाग्रहों को बदलना पड़ेगा।

ऊपर दिये गये सभी तथ्य तो सर्वविदित हैं, किंतु इस बात की जानकारी भारत में अभी नहीं है कि भारत के अभौतिक निष्कर्षों के बारे में अनुसंधान करने के लिए रूस में सरकारी प्रेरणा से प्रयोगशालाएं प्रारंभ की गयी हैं। अनुसंधान के प्रमुख विषय हैं— दूरस्थ व्यक्तियों के मन के विचारों का अतींद्रिय शक्ति द्वारा आदान-प्रदान, अतींद्रिय शक्तियों के सहारे जड़ वस्तुओं में गति-निर्माण करना, किर्लियन प्रभाव, किर्लियन छायाचित्रण का औषध-विज्ञान में प्रयोग, मानसिक उपचार, आकाशीय ग्रह-गोलों में संस्कृति, सम्मोहन की सहायता से रोगों का उपचार आदि।

हेनरी ग्रिस तथा विलियम डिक ने अपने 'द न्यू सोवियत साइकिक डिस्कवरीज' ग्रंथ में इस विषय का पूर्ण विवरण दिया है। शीला आस्ट्रेंडर तथा लिन श्रोडर, की पुस्तक 'साइकिक डिस्कवरीज बिहाइण्ड द आइरन कर्टेन' भी इसी विषय पर है। वास्तव में रूस में, जहाँ सरकार यह आग्रह रखने लगी है कि विज्ञान को भी कम्युनिज्म एवं उसके अंतर्गत द्वन्द्ववाद (डायलेक्टिसिज्म) की ही सेवा में रहना चाहिए[३५], सरकारी प्रश्रय से ही ये सारी प्रयोगशालाएं चल रही हैं। इनके द्वारा किये गये प्रयोगों में सबसे महत्त्वपूर्ण हैं सन १९६५ में जोसेफ किर्लियन द्वारा किर्लियन फोटोग्राफी की सहायता से लिये गये मानव-जीवात्मा अथवा सूक्ष्म शरीर के छायाचित्र। इसके अतिरिक्त मास्को विश्वविद्यालय के डॉ. कोन्स्टेण्टाइन कोबिजेव का प्रतिपादन है कि 'विशिष्ट काल में बड़ी मात्रा में सूर्य से पृथ्वी तक होने वाला ऊर्जा का प्रक्षेपण विज्ञान द्वारा सिद्ध की गयी एक वास्तविकता है। सूर्य के कारण होने वाली इस गतिविधि के कारण पृथ्वी पर लोगों में बड़े पैमाने

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पर हलचल होती है, यह बात उसी दिन निकाले गये लेखाचित्रों (ग्राफ्स) से स्पष्ट हो जाती है।''

रूसी वैज्ञानिक ज्योतिष शास्त्र को एस्ट्रॉलोजी कहना अच्छा नहीं मानते। उन्होंने उसे संज्ञा दी है—'कास्मिक बायोलॉजी'। एडवर्ड नामोव ने सूर्य पर पाये जाने वाले धब्बों के मानव-जीवन एवं मन पर होने वाले परिणामों के बारे में अनुसंधान प्रारंभ किया है, तो डॉ. लूनाकुर्स्ले तथा डॉ. सेमैश्को ने यह निष्कर्ष निकाला है कि ''ग्रहों पर होने वाली गतिविधियों के कारण मानव-व्यवहार में परिवर्तन होते हैं और पृथ्वी के मानवजीवन पर उनका प्रभाव होता है। डॉ. बी.वी. रमण द्वारा संपादित 'एस्ट्रालोजिकल मैगजीन' के इस वर्ष के विशेषांक में डॉ. ई. वेदव्यास का लेख प्रकाशित हुआ है जिसने प्रगतिशील (?) नेताओं को आश्चर्य का धक्का दिया है। 'कम्युनिस्ट देशों में खगोल शास्त्र का अनुसंधान' शीर्षक इस अंग्रेजी लेख में श्री वेदव्यास ने जी. कोशित्स्की एवं कोगन द्वारा लिखित 'मानव-विचारों का अंतरिक्ष पर होने वाला प्रभाव' शीर्षक निबंध, इसी विषय पर पावलिटा द्वारा किये गये प्रयोग, मेडिकल एस्ट्रॉलोजी पर रूसी एवं चेक अनुसंधान, चेक विद्वान लेमहेनी जोल्तास लिखित 'खगोल शास्त्र एवं हठयोग का पारस्परिक संबंध', हंगेरियन लेखक कुर्ल केचनिट्ज का गर्भनिरोध पर निबंध, चेकोस्लोवाकिया के डॉ. यूनोस एवं उनके एस्ट्रा-रिसर्च सेंटर द्वारा किया गया अनुसंधान एवं प्रकाशित साहित्य, बार्ना बलोग नामक हंगेरियन लेखक की 'एस्ट्रोनॉमी तथा प्राचीन ज्योतिषशास्त्र के आपसी संबंध' शीर्षक पुस्तक आदि अनुसंधान-साहित्य का उल्लेख कर कहा है, ''ऐसा दिखाई देता है कि कम्युनिस्ट देशों में ज्योतिषियों को भारत के आस्तिकों की अपेक्षा ज्योतिषशास्त्र एवं योगशास्त्र के प्रति अधिक सहानुभूति है।''

प्लेफेयर एवं स्कॉट हिल अपनी पुस्तक 'द साइकिल ऑफ हेवन' में लिखते हैं, ''इस शास्त्र को उन्होंने (बायोफील्ड,टु-फील्ड, एनर्जी बॉडी अथवा ॲनिसोट्रॉफिक बाडी) जो भी नाम दिया हो, रूसी वैज्ञानिकों ने एक ऐसी कल्पना का समर्थन किया है, जिसके कारण मनुष्य की अनेक पारंपरिक गूढ़वादी धारणाओं को वैज्ञानिक आधार प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए, १९७६ में हिल ने स्वीकार किया कि किसी रोगी के रोग का उपचार हस्त-स्पर्श से करने की प्रक्रिया में उपचार करने वाले द्वारा रोगी के शरीर में संक्रमित ऊर्जा में बायोप्लाज्मा (जैव तरल) का समावेश रहता है। इस संभावना की छानबीन करने के लिए प्रयोगशालाओं में बहुत अनुसंधान किया गया है। इन्युस्तिन के मार्गदर्शन में किये गये प्रयोगों में यह पाया गया कि एक जीवमान घटक से दूसरे घटक में बायोप्लाज्मा के मार्ग से ऊर्जा को संक्रमित किया जा सकता है। उसी प्रकार फिर एक बार यह भी अनुभव किया गया है कि पूर्व के गूढ़वादियों को मानव-मानव के बीच विद्युत-चुम्बकीय विज्ञान का पश्चिमी वैज्ञानिकों की अपेक्षा अधिक ज्ञान है।''

अपनी 'कुण्डलिनी योग' पुस्तक में श्री वालिबे कहते हैं, ''भारतीय योगियों ने सदियों से जो कहा है उसकी पड़ताल EEG, EKG और EMG जैसे आधुनिक उपकरणों की सहायता से करना संभव हो गया है। इसीलिए प्लेफेयर तथा स्कॉट

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हिल ने आग्रहपूर्वक प्रतिपादन किया है कि आधुनिक वैज्ञानिकों तथा सिद्धयोगियों का संबंध आना चाहिए एवं उनमें सहयोग भी होना चाहिए।

"अंतरिक्ष युग के तंत्रविज्ञान की यह कृपा है कि अधिक समय तक शिक्षा न देते हुए भी कुछ मात्रा में ऐसा सहयोग प्रस्थापित किया जा सकता है।'बायोफीडबैक' आंदोलन का एक लाभ यह हुआ है कि प्रयोगशालाओं में योगी एवं वैज्ञानिक एकत्रित हुए हैं।"

वेदांत, कम्युनिज्म तथा क्रेमलिनॉलाजी के विद्वान श्री वा. नी. देशपांडे का मत है कि, "योगशास्त्र तत्त्वज्ञान की उच्चतम परिणति है और भारत के प्राचीन ऋषियों द्वारा सिद्ध द्वन्द्ववाद के नियमों को आधुनिक सोवियत विज्ञान ने भी मान्यता दी है। उसके द्वारा स्थापित शास्त्रीय अध्ययन की शाखा साइकोट्रॉनिक्स (या 'योगट्रॉनिक्स') में यही मान्यता दिखाई देती है। प्राचीन ऋषियों द्वारा सिद्ध नियमों का क्षेत्र अन्तर्ज्ञान का था जो उच्च ज्ञान के साधन के रूप में हेतुपूर्वक विकसित की जाने वाली मन तथा शरीर की अद्‌भुत शक्ति है।"

सारांश, जैसा कि प्रॉ. हक्सर ने कहा है, "उच्चतम स्तर पर वैज्ञानिक प्रवृत्ति और आध्यात्मिक वृत्ति एकरूप ही होती है [३६]।"

बम्बई विश्वविद्यालय के तत्त्वाधान में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के निमंत्रण पर १९८२ में डॉ. फ्रितूजॉफ कापरा द्वारा दी गयी एक भाषणमाला में भी यह तथ्य स्पष्ट किया गया है। कार्टेशियन एवं न्यूटनियन विज्ञान अब कालबाह्य हो गया है। यह कहते हुए कि सृष्टि की मौलिक एकात्मकता ही अत्याधुनिक विज्ञान तथा भारतीय दर्शन से प्रकट होती है, प्रो. कापरा ने क्वांटम सिद्धांत के प्रणेताओं में से एक श्री वर्नर हाइजेनबर्ग तथा श्री अरविन्द के, और परमाणु भौतिकीविद हेनरी स्टैप तथा नागार्जुन के एक से उद्धरण प्रस्तुत किये तथा डॉ. राधाकृष्णन द्वारा वर्णित गतिमान विश्वदर्शन हमारे सम्मुख रखा। चौ-आयामी 'दिक्-काल सांतत्यक' (स्पेस-टाइम-कंटीन्युअम) की कल्पना के सदृश अरविन्द के साक्षात्कार एवं जापानी विद्वान डी.टी. सुजुकी के महायान बौद्धमत के दिक्-काल सांतत्यक के पहलू पर किये गये भाष्य उन्होंने प्रतिपादित किये हैं। क्वांटम सिद्धांत तथा सापेक्षता सिद्धांतों से प्रकट होने वाले वैश्विक नृत्य का काव्यमय सुंदर प्रकटीकरण नटराज शिव के नृत्य में होता है। कापरा कहते हैं—"आधुनिक भौतिकीविदों की दृष्टि में शिव का यह नृत्य बोध की कक्षा में न आने वाले आणिवक पदार्थ मात्र का नृत्य है। हिन्दू पुराणकथाओं में वर्णित विश्वव्यापी उत्पत्ति एवं संहार का वह अखण्ड चलने वाला नृत्य है। सम्पूर्ण अस्तित्व और सभी प्राकृतिक उथलपुथल का वही आधार है। वैश्विक नृत्य के इस रूपक में प्राचीन पुराणकथाएं, धार्मिक कला-विकास तथा आधुनिक पदार्थविज्ञान एक साथ जोड़े गये हैं। जैसा कि कुमार स्वामी ने कहा है, "सचमुच यह काव्य है और उतना ही विज्ञान भी।"

अपने दूसरे भाषण में,जिसका विषय 'द सिस्टम्स व्यू ऑफ लाइफ' था, श्री कापरा कहते हैं, "आधुनिक भौतिक विज्ञान की विश्व की ओर देखने की दृष्टि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उच्च नैतिकता एवं पर्यावरण की प्राकृतिक शुद्धता पर बल देने वाली हैं। सभी घटकों में परस्पर संबंध एवं परस्परावलंबित्व और वस्तुमात्र की अन्तरंग गतिमानता पर उसने बल दिया है।''

'सिस्टम्स व्यू' के दृष्टिकोण से वे आगे कहते हैं, ''सभी जीवमान रचनाओं की महत्त्वपूर्ण विशेषता अनेक स्तरों पर एक रचना में से दूसरी उपरचना का निर्माण करने की उनकी प्रवृत्ति है। उदाहरण के लिए, मानव-शरीर में अनेक अवयव अपनी-अपनी व्यवस्थाओं में चलते रहते हैं। प्रत्येक अवयव ऊतकों (टिस्यू) का बना होता है और प्रत्येक ऊतक कोशिकाओं से बना होता है। ये सब घटक जीवमान होते हैं। सुनियंत्रित जीवमान रचना के रूप में उनका अस्तित्व होता है। अधिक छोटे घटकों ने उनका निर्माण किया होता है। उसी समय ये सब घटक एक बड़ी व्यवस्था के अंश के नाते भी काम करते रहते हैं। अत: जीवनमान व्यवस्था का स्वरूप बहुस्तरीय है और प्रत्येक स्तर पर उनमें परस्पर संबंध एवं परस्परावलंबन पाया जाता है। प्रत्येक स्तर की रचना अपने सम्पूर्ण पर्यावरण को प्रभावित करती रहती है। पर्यावरण का उस पर प्रभाव पड़ता रहता है और इस प्रकार एक सुसंवाद साधने की प्रक्रिया होती रहती है।''

''जीवनमान विश्व बहुस्तरीय रचनाओं द्वारा संगठित हुआ है, जिसका अर्थ यही है कि मन के भी ऐसे ही स्तर अवश्य होंगे। उदाहरण के लिए, मानव-शरीर में अनेक स्तरों पर नव-नवीन मनोव्यापार होते रहते हैं। उनमें कोशिकाओं, ऊतकों तथा अंगों अवयवों का संबंध आता है। इसके अतिरिक्त मस्तिष्क की स्नायु-तंत्रियों द्वारा प्रेरित कुछ व्यापार होते हैं। इन सभी मानसिक व्यापारों के समुच्चय को मैं मानव-मन की संज्ञा दूंगा। प्रकृति की बहुस्तरीय व्यवस्था में व्यक्तियों के मन समाज एवं पर्यावरण की विशाल मानसिक रचनाओं में जड़े होते हैं। इन सबका ग्रहमण्डल की मनोव्यवस्था में समावेश रहता है और वह मनोव्यवस्था भी किसी न किसी प्रकार के वैश्विक मन में अवश्य समाहित रहती होगी।''

इस भाषण का समारोप करते हुए उन्होंने कहा, ''सृष्टि का यह जो व्यवस्थात्मक दृष्टिकोण मैंने आपके सम्मुख रखा है, उससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि विश्व की ओर देखने की नयी दृष्टि पर्यावरणात्मक है। एक अर्थ में पर्यावरण का संरक्षण करने की तात्कालिक चिंता से परे जाकर बहुत दूर तक पहुँचने वाली यह दृष्टि है। इसे आधुनिक विज्ञान का आधार प्राप्त है, किन्तु इसका मूल एक ऐसी सत्ता के साक्षात्कार में है, जो विज्ञान की परिधि से बाहर उड़ान भरकर सभी जीवन के एकत्व, जीवन की विविध अभिव्यक्तियों में परस्परावलम्बन तथा उसके परिवर्तन एवं रूपान्तरण के चक्रों का अन्तर्ज्ञान रखती हैं। जिस योग के कारण मनुष्य को वैश्विक पूर्णता के साथ अपना नाता होने का बोध होता है, उस बोध के एक प्रकार के रूप में मानव चेतना को देखा जाये तो स्पष्ट हो जायेगा कि पर्यावरणविषयक बोध सचमुच आध्यात्मिक स्वरूप का है। वस्तुत: मनुष्य के विश्व के साथ जुड़ा होने की कल्पना 'रिलिजन' शब्द के मूल लेटिन धातु द्वारा व्यक्त हुई है। वह धातु है 'रेलिगारे' (दृढ़ता से बाँधे रखना)। उसी प्रकार संस्कृत

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भाषा में 'योग' शब्द है। उसका अर्थ परस्पर मिलन होता है। पर्याप्त विश्वास के साथ आज हम कह सकते हैं कि पूर्व का प्राचीन ज्ञान हमारे आज के वैज्ञानिक सिद्धांतों को सबसे सुसंगत एवं तत्त्वज्ञानात्मक पृष्ठभूमि उपलब्ध करा देता है।"

इस प्रकार प्रगमनशील विज्ञान धीरे-धीरे एकात्मदर्शन की दिशा में आगे बढ़ रहा है। किन्तु पंडित जी के जीते जी उसका यह मार्गक्रमण उतना सुस्पष्ट नहीं हुआ था। फिर भी तथाकथित प्रगतिशील लोगों द्वारा की जाने वाली तीखी आलोचना की परवाह न करते हुए पंडित जी ने भारतीय संस्कृति पर आधारित अपना दर्शन विश्व के सम्मुख रखा, इसमें उनका आत्मविश्वास एवं सनातम धर्म में दृढ़ श्रद्धा ही दिखाई देती है। इस दर्शन के द्वारा पंडित जी ने कुंठित, हताश एवं संकटग्रस्त मानवता को योग्य दिशा दिखाई है। आज मानव समाज कहाँ आकर खड़ा है इसके बारे में कापरा ने अन्यत्र बहुत ही मार्मिक स्पष्टीकरण किया है—

"अन्तः स्फूर्त ज्ञान की अपेक्षा बुद्धि से होने वाले ज्ञान की महत्ता पश्चिमी लोगों ने आज तक अधिक मानी है। धर्म की अपेक्षा विज्ञान, सहयोग की अपेक्षा स्पर्धा, प्राकृतिक स्रोतों के रक्षण की अपेक्षा उसके शोषण में उन्होंने अधिक रूचि ली है। अन्य अनेक बातों के साथ इन बातों से एक सांस्कृतिक असंतुलन निर्मित हुआ है। वही आज के संकटों की जड़ है। हमारे विचारों एवं भावनाओं, जीवन-मूल्यों एवं प्रवृत्तियों, तथा सामाजिक एवं राजनीतिक रचना को अपने अंदर समेटने वाला यह असंतुलन है।"

"आज का संकटकाल भोगवादी संस्कृति की ही एक परिणति है। व्यक्ति, समाज, सभ्यता अथवा एक ग्रह की पर्यावरणात्मक व्यवस्था के नाते हम परिवर्तन का एक चरण पूरा कर रहे हैं। आज हमें किसी बात की आवश्यकता है तो जीवन के नये आशयपूर्ण नमूने अर्थात् सृष्टि की ओर देखने की नयी दृष्टि की, और हमारे विचारों, दृष्टियों तथा मूल्यों में मूलभूत परिवर्तन की।"

यह नवीन प्रतिमान (Paradigm) देने के लिए पंडित जी मानव जाति के आज के मोड़ पर खड़े हैं।

१७.

विचार एवं आचार की मूल प्रेरणा 'हिन्दुत्व' ही होने के कारण संघ के प्रणेताओं की दृष्टि स्वभावतः राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय-मानवीय ही रही है। व्यावहारिक भूमिका से धरती पर घोंसला बनाने की दक्षता बरतते समय भी अंतिम लक्ष्य की साधना के लिए उनकी दृष्टि अंतरिक्ष का बेध लेने वाली रही है।

यह एक सुविदित बात है कि सन १९२० में नागपुर कांग्रेस के अधिवेशन में स्वयंसेवी दल के प्रमुख के नाते पू. डा. हेडगेवार ने काम किया था। किन्तु अधिकांश लोगों को ज्ञात नहीं है कि विषय ममिति के विचारार्थ स्वागत समिति द्वारा प्रेषित एक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव मुख्यतः पू. डॉक्टर जी की प्रेरणा से ही तैयार किया गया था। उस प्रस्ताव में कहा गया था, "हिन्दुस्थान के गणतंत्र का निर्माण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कर पूँजीवादी राष्ट्रों के चंगुल से विश्व के देशों को मुक्त करना कांग्रेस का ध्येय है।"

इस प्रस्ताव में 'विश्व के देशों को मुक्त' करने की कल्पना का मखौल उड़ाते हुए विषय-समिति ने उस प्रस्ताव को विचारार्थ नहीं लिया।

आगे चलकर हिन्दू संगठन के जागतिक कार्य की दिशा स्पष्ट करते हुए पू. श्री गुरूजी ने कहा, "हिन्दू समाज को उसकी वैशिष्ट्यपूर्ण राष्ट्रीय अस्मिता के आधार पर फिर से संगठित करने का कार्य राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने हाथ में लिया है। वह भारत के वास्तविक राष्ट्रीय पुनरुत्थान की प्रक्रिया का एक भाग तो है ही, साथ ही विश्व की एकता और समस्त मानव जाति के कल्याण का स्वप्न साकार करने की प्रक्रिया में भी वह एक अनिवार्य पूर्व-अवस्था है। जागतिक एकता के संबंध में हिन्दुओं का चिंतन ही विश्व बंधुत्व का स्थायी आधार बन सकता है। यह बोध कि एक ही अन्तरात्मा सबमें व्याप्त है, मनुष्य मात्र के सुख के लिए प्रयत्नशील रहने की दिव्य प्रेरणा मनुष्य के अन्त:करण में निर्मित कर सकेगा। इस धरती की समस्त जीवसृष्टि को अपना परिपूर्ण विकास करने का पूरा एवं मुक्त अवसर भी इस हिन्दू-विचार के द्वारा ही उपलब्ध हो सकेगा..... यह श्रेष्ठ जागतिक कार्य केवल हिन्दू समाज ही पूर्ण कर सकेगा।"

पंडित जी भी इस परंपरा में पले थे। अत: उनकी श्रद्धा थी कि इसी प्रेरणा तथा दृष्टि से राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय-मानवीय स्तरों पर सभी आधिव्याधियों की टोह लेकर उनके निराकरण का मार्ग खोजना अपना जीवन कार्य है।

कहते हैं कि रोग का अचूक निदान उसे आधा ठीक करने के समान होता है। पंडित जी की पहली बरसी (वार्षिक श्राद्ध) के दिन उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करने वाला एक लेख 'आर्गेनाइजर' में प्रकाशित हुआ था। उसमें अनेक स्तरों पर मानवता को लगे रोगों का पंडित जी के द्वारा किया गया निदान था। अनुवाद करने के प्रयास में मूल विवरण के प्रति थोड़ा अन्याय हो सकता है, क्योंकि श्री म.न. जोशी ने ठीक ही कहा है कि "कोई अनुवाद यदि सुन्दर हो, तो यह आवश्यक नहीं कि वह मूल पाठ के अनुसार ही होगा और यदि वह मूल पाठ के अनुसार हो,तो उसमें सुन्दरता का अभाव भी संभव है।" फिर भी यह ध्यान में लेना होगा कि पंडित जी एक दृष्टा थे और मानवता को लगे रोगों पर उन्होंने बराबर अंगुली रखी थी। उन रोगों का उपचार करना उनका जीवन-कार्य था।

पंडित जी ने उस लेख में कहा था–

"आज मानव जाति के सम्मुख अनेक मूलभूत और संभ्रम में डालने वाली समस्याएं खड़ी हैं। उदाहरणार्थ, निम्न बातों का तालमेल कैसे बिठाया जायेगा ?

– व्यक्ति-स्वातंत्र्य और सामाजिक अनुशासन;
– व्यक्तिगत संघर्ष के लिए प्रेरणा और समता की ललक;
– आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय;
– जीवन में अनुस्यूत मूलभूत एकता और बाह्यत: दिखाई देने वाली विविधता;
–राज्यों की अधिसत्ता और औद्योगिक एवं नागरी, स्वशासन;

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

– व्यवस्था और उत्स्फूर्तता;
– सामाजिक सुव्यवस्था और राज्यविहीनता;
– बुद्धिवाद एवं बुद्धि का कार्य और उसकी मर्यादाओं का बोध;
– विशिष्ट विषयों में विशेषज्ञता और समग्र दृष्टि;
– भौतिक प्रगति और आध्यात्मिक उन्नति;
– राष्ट्रीय स्वावलंबन और अंतरराष्ट्रीय सहकार्य।

इसके अतिरिक्त निम्न वांछनीय बातों को सुनिश्चित और स्थायी कैसे किया जा सकता है, यह भी प्रश्न ही है–

– स्वतंत्रता चाहिए, स्वैराचार नहीं;
– अनुशासन चाहिए, साँचा-बंद अवस्था नहीं;
– प्रतिष्ठा चाहिए, किंतु साथ ही सुविधाओं की गठरी नहीं;
– एकता चाहिए, एकरूपता नहीं;
– स्थिरता चाहिए, निष्क्रियता या अवरुद्धता नहीं;
– गतिमानता चाहिए, साहसवाद नहीं;
– शासनसत्ता हो, किंतु शासन ही सर्वसमर्थ न हो;
– प्रौद्योगिक प्रगति चाहिए, मानवीय गुणों का लोप नहीं;
– भौतिक समृद्धि चाहिए, ऊबड़-खाबड़ 'जड़वाद' नहीं;
– समाज में तली से शीर्षबिन्दु तक श्रेणियों की खड़ी (ऊर्ध्वाधर) रचना चाहिए, क्षैतिज तल के वर्गभेद नहीं;
– मानवतावाद स्पृहणीय, किंतु मानवकेंद्रितता नहीं चाहिए।

राष्ट्रीय स्तर पर भी चुनौतियाँ देने वाली अनेक समस्याएं हैं जिनका समाधान तुरंत करना होगा। उदाहरण के लिए–

– सेवायोजन (रोजगार) के बढ़ते अवसर और अद्ययावत् तंत्रविज्ञान;
– उत्पादन की विकेंद्रित प्रणाली और अधिक उत्पादकता;
– राष्ट्रीयकरण और सार्वजनिक उत्तरदायित्व;
– नगरीकरण का वेग और सांस्कृतिक वातावरण;
– निचले स्तर पर छोटी-छोटी योजनाएं और राष्ट्रीय स्तर पर सुसंवादी बृहत् योजना;
– नानाविध स्वाभाविक जन-समूहों का एकात्मीकरण और उन जन-समूहों की विशेषताओं का परिपालन;
– भारतीय जीवन-मूल्य और आधुनिक वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिक प्रगति;
– आधुनिक काल की आवश्यकताएं और सनातन धर्म के आदर्श।

निम्नलिखित उद्देश्यों को हम कैसे प्राप्त करें?

– विभिन्न राष्ट्रीय संस्कृतियों द्वारा समृद्ध बना विश्वराज्य;
– जड़वाद सहित सभी सम्प्रदायों की परिपूर्णता से समृद्ध मानव धर्म की उत्क्रांति।

कहना न होगा कि यह सूची केवल उदाहरण के लिए ही है, अपने में परिपूर्ण नहीं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१८

पंडित जी भारत की प्राचीन ऋषि संस्था के प्रतिनिधि थे। आचार्य जावडेकर ने इसे 'यतिवर्ग' की संज्ञा दी है। आचार्य विनोबा जी ने उसे 'आचार्य कुल' कहा है और पू. श्री गुरुजी ने 'ऋषि संस्था' कहकर उसका गौरव किया है। वर्ग-कल्पना-रहित सज्जन-समूह हिंदू समाज-रचना की विशेषता है। श्री गुरुजी कहते हैं, "समाज के सभी अवयवों की आवश्यकता जिसकी समझ में ठीक से आ जाती हैं, उनके पारस्परिक संबंधों को जो ठीक से रख सकता है, और स्वयं निरपेक्ष, एवं निःस्वार्थ होने के कारण सबको एक सूत्र में बांधे रखने की क्षमता जिसके अंदर है, ऐसा समूह समाज-धारणा के लिए अपरिहार्य होता है।"[३७]

एक अन्य प्रसंग में श्री गुरुजी ने कहा है, "सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्राचीन हिन्दू रचना में राज्यसत्ता एवं धनसत्ता दोनों शक्तियों की देखरेख ऐसे व्यक्ति किया करते थे जिनका अपना कोई व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं होता था। सत्ता और धन के प्रलोभन से ऊपर उठकर आध्यात्मिक अधिकार का धर्मदंड धारण करते हुए सदा सतर्क रहने वाले और इन दोनों शक्तियों में से किसी भी एक द्वारा किये गये अन्याय का निराकरण करने की क्षमता रखने वाले लोग और उनकी अखण्ड परंपरा ही हमारे प्राचीन राष्ट्र के वैभव एवं अमरता का प्राण रही है।"[३८] यह ऋषि परंपरा भारत में अखण्ड चलती आयी है। पंडित दीनदयाल जी इसी वर्ग के थे और इसीलिए अत्यंत परिश्रमपूर्वक गहन मनन एवं चिंतन करते हुए उन्होंने मानवता के रोगों का अचूक निदान उपरिनिर्दिष्ट रूप में किया था।

उनकी श्रद्धा थी कि ऊपर दिये हुए सभी प्रश्नों के उत्तर खोजना अपना जीवनकार्य है। कारण, वे मानते थे कि उपरिनिर्दिष्ट एवं तत्सम अन्य समस्याओं का निराकरण करना हिन्दू राष्ट्र का जीवनकार्य है। हिन्दू राष्ट्र का अपना एक जागतिक जीवन-लक्ष्य (मिशन) है। विनाश के कगार पर खड़े मानव-समाज को सुरक्षा एवं सुख-समृद्धि का मार्ग दिखाने का ऐतिहासिक दायित्व नियति ने हिन्दू राष्ट्र पर सौंपा है और उस दृष्टि से हिन्दू राष्ट्र के इस जागतिक लक्ष्य का स्वरूप स्वामी विवेकानंद, योगी अरविंद एवं श्री गुरुजी ने असंदिग्ध शब्दों में घोषित किया है। यही नहीं, भविष्य का वेध लेने वाले कुछ पश्चिमी विचारकों ने भी इस राष्ट्र के जीवनकार्य के बारे में अपनी कल्पनाएं एवं अपेक्षाएं लगभग इन्हीं शब्दों में प्रकट की हैं। इन सबके प्रतिनिधिस्वरूप सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता आर्नाल्ड टायनबी के विचार संक्षेप में उद्धृत करना उद्बोधक होगा—

"यहाँ (भारत में) हमें ऐसी मानसिकता और चेतना दिखाई देती है कि जिसके आधार पर मानव जाति के लिए एक परिवार के नाते अपना विकास करना संभव होगा। आज के अंणु-युग में अपना सर्वनाश न करना हो, तो दूसरा कोई उपाय नहीं है।"

"आज हम अभी भी मानव इतिहास के एक संक्रमण-युग में हैं किंतु इससे पहले ही यह स्पष्ट दिखाई देने लगा है कि मानव जाति को आत्मविनाशकारी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अन्त से यदि बचाना हो तो इस युग का अध्याय प्रारंभ भले ही पश्चिम से हुआ हो, उसकी समाप्ति भारत से ही होनी होगी। आज के युग में पश्चिमी तंत्र-विज्ञान ने विश्व को भौतिक स्तर पर एकत्र किया है। इस पश्चिमी तंत्र ने न केवल 'दूरी' नाम की वस्तु को समाप्त किया है, अपितु विश्व के देशों को एक दूसरे के अत्यन्त निकट खड़ा करके विध्वंसक शस्त्रों से उनको सुसज्जित भी किया है। एक दूसरे को जानने और एक दूसरे से प्रेम करने का तंत्र उन्होंने आज भी नहीं सीखा है। मानव इतिहास के इस अत्यंत संकट के क्षण में मानवता को बचाना हो, तो केवल भारतीय मार्ग से ही वैसा किया जा सकता है।"

"मुझे तीन बातों की ओर ध्यान दिलाना है... पहली बात यह कि भारत का स्थान विश्व में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और वह सदैव वैसा ही रहता आया है। बिल्कुल प्रारंभ में, जब संस्कृति का प्रचार अपने उस मूल स्थान से, जहां आज का इराक है, पूर्व और पश्चिम की ओर होना प्रारंभ हुआ, तभी से भारत का स्थान महत्त्वपूर्ण रहता आया है। मेरा दूसरा कथन यह है कि भारत आज के विश्व का सार-भूत स्वरूप ही है। संपूर्ण विश्व को त्रस्त करने वाले अनेक प्रमुख प्रश्न आज भारत में विशेष रूप से सामने आये हैं और उनका समाधान भारतीयों के राष्ट्रीय प्रश्न के नाते करने के प्रयास हो रहे हैं। भारत की जनता और सरकार यह प्रयास कर रही है। तीसरी बात, भारत में जीवन की ओर देखने की एक दृष्टि है और मानव के व्यवहारों को निभाने की एक ऐसी भूमिका भी है जो केवल भारत में ही नहीं, संपूर्ण विश्व में आज की परिस्थिति में अत्यंत उपकारक सिद्ध होगी।"

"इस अति सुन्दर और इसीलिए अत्यंत कष्ट-साध्य आदर्श के अनुसार, जो आपकी भारतीय परंपरा का रिक्थ (विरासत) है, अपना जीवन बनाने में भारत यदि कहीं असफल हो जाता है तो संपूर्ण मानव जाति के भावी कल्याण में बाधा उपस्थित होगी। भारत पर इतना महान आध्यात्मिक दायित्व है।"

नियति द्वारा सौंपा गया यह ऐतिहासिक एवं जागतिक दायित्व निभाने की क्षमता अपने हिन्दू राष्ट्र में निर्मित हो, इसके लिए पंडित जी ने निरंतर प्रयास किया था। उनके बहुआयामी कार्य का वही लक्ष्य था। इसी उद्देश्य से राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय जीवन के विविध क्षेत्रों में मौलिक विचारों का विकास करते रहने का प्रयास उन्होंने किया। इस कार्य का सूत्र पंडित जी ने जहाँ नीचे रखा, वहीं से उसे उठाकर आगे बढ़ाना, उन्हें सच्ची श्रद्धांजलि होगी। इस दृष्टि से प्रयत्नशील होने की प्रेरणा इस 'विचारदर्शन' के द्वारा कुछ विचारकों को मिली, तो इसके लेखकों के परिश्रम सार्थक माने जायेंगे।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परिशिष्ट

१. जनसंघ की स्थापना से पूर्व के इस कालखण्ड में पंडित जी द्वारा लिखे गये लेखों से उनकी विश्लेषक दूरदर्शिता कैसे स्पष्ट होती है, इसके लिए निम्न उदाहरण देखिए:

"कांग्रेस का यह संघर्ष भावी समाजवादी, साम्यवादी और राष्ट्रवादी संघर्ष को जन्म देगा। इनमें से कौन सा वर्ग कांग्रेस पर अधिकार करेगा, आज कहना कठिन है। यद्यपि दिखता यही है कि राष्ट्रवादी दल ही प्रभुत्व में रहेगा।"

"यह कार्य कांग्रेस को भंग करके विचारधाराओं के आधार पर नवीन राजनीतिक दल का निर्माण करके किया जा सकता है अथवा एक विचारधारा का कांग्रेस पर प्रभुत्व स्थापित करके तथा दूसरी को बाहर निकाल कर कांग्रेस एवं कांग्रेस से इतर राजनीतिक दलों की स्थापना से हो सकता है। पहला मार्ग गांधी जी ने सुझाया था, किंतु कांग्रेसी नेताओं ने उसे स्वीकार नहीं किया। फलतः दूसरा मार्ग काम में लाया जा रहा है। प्रत्येक दल कांग्रेस की साख और उसके शासनारुढ़ होने का लाभ उठाने की दृष्टि से कांग्रेस पर अधिकार करने को व्यग्र है। इनमें से कोई भी दल कांग्रेस पर अधिकार करे, नीतियाँ स्पष्ट होने तक तो जनता को दो पाटों के बीच अवश्य पिसना पड़ेगा, जब तक कि वह दोनों को तिलांजलि देकर अपना अलग संगठन न कर ले।"

—राष्ट्रधर्म, वर्ष-२, अंक-८, भाद्रपद पूर्णिमा २००७ (अगस्त, सन १९५०)

२. यहाँ यह उल्लेखनीय है कि संघ प्रारंभिक दो-सवा दो दशकों तक 'श्रुति अवस्था' में था। कार्य-विस्तार के कारण आने वाली संगठित समाज-जीवन की 'स्मृति-अवस्था' की अपरिहार्यता तब तक उत्पन्न नहीं हुई थी। सम्भाव्य आवश्यकताओं का विचार कर मा० बाबासाहेब आपटे आदि वरिष्ठ लोगों ने संघ-क्षेत्र में ऐसी गुणवत्ता की खोज प्रारंभ कर दी थी और श्री भास्करराव निनावे, भिशीकर बंधु आदि लोगों को प्रोत्साहन देना भी प्रारंभ किया था। किंतु लेखकों एवं साहित्यकों का एक बड़ा गुट एकत्र कर उनके द्वारा संघ का प्रचार करने की कल्पना उस समय अनुचित लगती थी। ऐसी कोई योजना होती तो यह नहीं था कि उस पर आचरण करना कठिन होता। कारण, श्री केशवराव वकील जैसे लोगों द्वारा चलायी गयी 'आकांक्षा' नाम की हस्तलिखित पत्रिका के स्तंभों में लिखने वाले उदीयमान तथा (संघ-क्षेत्र के लेखकों की बात छोड़ भी दें, तब भी) प्रखर हिन्दुत्वनिष्ठ साहित्यिकों का एक अच्छा बड़ा वर्ग उन दिनों विदर्भ में उपलब्ध था। 'वागीश्वरी' व 'सावधान' गुट के सर्वश्री वासुदेवराव फडणवीस, रा.बा. मावकर, शं.बा. शास्त्री, रा.वि. काली, तात्याजी कालीकर, (बालाजी हुद्दार) ज.के. (बुवा) उपाध्ये, श्री रा. बोवड़े आदि लोगों का इस वर्ग में समावेश था। (कुछ काल श्री पु.भा. भावे भी इस गुट में थे।) पू. डाक्टर जी के इन सबके साथ निकट संबंध भी थे। किंतु संगठन की दृष्टि से उन दिनों वैसी अवस्था नहीं आयी थी। यह एक संयोग ही कहा जायेगा कि पंडित जी के प्रचारक जीवन प्रारंभ करने के बाद कुछ ही दिनों में संघ ने इस 'स्मृति-अवस्था' में प्रवेश किया।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

३. श्री सी.के.एन. राजा ने अपने 'एक्विटेड बाइ हिस्टरी' शीर्षक लेख में लिखा है–

''प्राचीन भारतीय न्यायशास्त्र के 'धर्म' शब्द को अंग्रेज़ी के 'लॉ' (विधि) शब्द का समानार्थी नहीं माना जा सकता। कारण, 'धर्म' शब्द को अधिक व्यापक आशय एवं व्यावहारिक अर्थ प्राप्त है। किंतु अंग्रेजी भाषा में दूसरा अचूक शब्द न होने के कारण 'धर्म' शब्द के अधिकतम निकट आने वाले शब्द के रूप में 'Law' (विधि या कानून) शब्द को स्वीकार किया जा सकता है।''

४. भारतीय पारंपरिक शब्दों के प्रयोग के बारे में पंडितजी विशेष आग्रह रखते थे। पंडित जी द्वारा प्रयुक्त कुछ परिभाषाओं एवं कल्पनाओं का अधिकृत स्पष्टीकरण 'दैशिक शास्त्र' ग्रंथ में पाया जाता है। 'चिति', 'विराट्' आदि संज्ञाओं का विवरण उसमें मिलता है। 'अधिलवण अवधारणा' भी ऐसी ही एक परिवार-नियोजन विषयक (दैशिक शास्त्र की), पारिभाषिक संज्ञा है। 'अर्थायाम' भी दैशिक शास्त्र का ऐसा ही एक शब्द है। जिसमें संपत्ति का अभाव एवं प्रभाव दोनों न रहे, ऐसी अर्थव्यवस्था को उसमें 'अर्थायाम' कहा गया है। 'मातृदायिका' शब्द भी ऐसा ही है। गाँव में ऐसी प्रथा थी कि घर-गृहस्थी वालों में उनके निर्वाह के योग्य अच्छी उपजाऊ भूमि बाँट दी जाय; इस भूमि को पुरस्कार के रूप में किसी को देने, बन्धक रखने, उसके नीलाम करने या बेचने का अधिकार किसी को नहीं होता था; गृहस्थ की मृत्यु के बाद यह भूमि उसकी पत्नी को मिलती और पत्नी की मृत्यु के बाद फिर से सरकार को वापस कर दी जाती थी। इसमें उद्देश्य यह था कि फिर से गाँव के किसी दूसरे परिवार को उसके निर्वाह के साधन के रूप में वह भूमि जोतने का अधिकार दिया जा सके। इस प्रथा को 'मातृदाय' प्रथा कहा जाता था। श्री बद्रीशाह ठुलधरिया इस ग्रंथ के लेखक हैं। इस ग्रंथ के बारे में लोकमान्य तिलक ने ग्रंथकर्ता को लिखा था कि ''मैं आपके विचार से पूर्णतः सहमत हूँ और मुझे हर्ष है कि आपने इतनी सशक्तता से उसे हिंदी में सबके सम्मुख रखा है।''

इस ग्रंथ का आगे चलकर उतना प्रचार नहीं हुआ जितना कि होना चाहिए था। उसका गुणग्रहण कई दशकों बाद पंडित जी द्वारा होना था।

'दैशिक शास्त्र' के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों से भी कुछ पारिभाषिक शब्द पंडित जी ने लिये थे और उनका प्रयोग वे अभ्यास-शिविरों में करते थे। उदाहरणार्थ, 'अदेयमातृका कृषि' तथा 'अपरमातृक उद्योग'। पहले शब्द का पारिभाषिक अर्थ है– ऐसी खेती, जो (नहरों आदि सिंचाई व्यवस्था के कारण) वर्षा पर निर्भर नहीं। ऐसे उद्योगों को, जो उत्पादन-प्रक्रिया के लिए अन्य देशों पर निर्भर नहीं रहते, उपर्युक्त दूसरी संज्ञा प्राप्त थी। आधुनिक काल में भी उपर्युक्त होने वाले पुराने पारंपरिक शब्दों एवं संज्ञाओं को फिर से प्रचलित करने की ओर दीनदयाल जी का रुझान था।

५. इस संदर्भ में एक छोटी सी घटना उद्‌बोधक है। जनसंघ के कानपुर अधिवेशन के समय ३१ दिसम्बर, १९५२ को, संघ-स्वयंसेवकों का एकत्रीकरण हुआ था और डा. मुखर्जी स्वयंसेवकों को सम्बोधित कर रहे थे।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तभी वर्षा प्रारभ हो गयी। एक स्वयंसेवक डा. मुखर्जी के ऊपर छतरी तानने के लिए आगे आया। छतरी लेना अस्वीकार करते हुए डा. मुखर्जी ने कहा, "मेरे सामने ये सैकड़ों स्वयंसेवक पानी में भीगते बैठे हैं। फिर मैं ही अकेला क्या इस वर्षा को सहन नहीं कर सकता? क्या आप लोग मुझे स्वयंसेवक नहीं मानते?"

६. श्री कुली ने इस विषय में अपना मत इन शब्दों में प्रकट किया है—"राज्य एक राजनीतिक निकाय या अपनी संयुक्त शक्ति के सहारे एक दूसरे की सुरक्षा एवं सुख-सुविधाएं अर्जित करने के लिए एकत्रित मानवसमाज होता है। सर्वसामान्य बातचीत: अथवा राष्ट्रों के विधानों में राष्ट्र और राज्य दोनों शब्द समान अर्थवाचक रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं; किंतु राष्ट्र शब्द लोगों के साथ अधिक सटीक जुड़ा है। एक ही राज्य में अनेक राष्ट्र हो सकते हैं, अथवा एक ही राष्ट्र के लोगों का कभी-कभी अनेक राज्यों में विभाजन भी हो सकता है।"

ऐसे विश्लेषणात्मक विचारों के अभाव में भारत की स्थिति के बारे में न्यायमूर्ति राम जोइस के वक्तव्य को समझ पाना कठिन है। वे कहते हैं:

"राजधर्म के साथ समान विधानों की सत्ता चलती रहती है। इसलिए इस देश की सारी जनता ने अपना एक राष्ट्र बनाया। विभिन्न राज्यों अथवा शासकों की सत्ता में भिन्न-भिन्न स्वतंत्र राज्यों तथा प्रदेशों के रूप में देश का असंख्य राजनीतिक घटकों में विभाजन भी हो गया, तब भी एक राष्ट्रीयत्व में उससे बाधा नहीं आयी। अनेक सदियों के बीतते कई राज्यों का उदय और अस्त हुआ। अनेक भीषण विनाशकारी युद्ध हुए। फिर भी सारी जनता पीढ़ी-अनु-पीढ़ी एक ही विधि-प्रणाली के नीचे एक राष्ट्र के नाते रखी गयी, यही भारतीय समाज और उसके नेतृत्व का अत्यंत लक्षणीय कर्तव्य था।

सारांश, राष्ट्र (Nation) तथा राज्य State दोनों संकल्पनाएं एक नहीं हैं। राज्य-संकल्पना के स्वरूप और उसकी परिभाषा के बारे में विचारकों में भी स्पष्टता एवं एकवाक्यता नहीं है, इसका बोध अनेक लोगों को नहीं रहता। उदाहरण के लिए कुछ व्याख्याएं देखें:

"राज्य कई व्यक्तियों का ऐसा समूह होता है जो एक सुनिश्चित भूभाग पर सदैव रहता है, बाह्य नियन्त्रणों से मुक्त रहता है, जिसकी एक सुसंगठित सरकार होती है, और इस सरकार की आज्ञाओं का अधिसंख्य निवासी नित्य के जीवन में पालन करते हैं।" (गार्नर)

"मनुष्य समाज का एक विशिष्ट भाग है जिसकी ओर एक सुसंगठित इकाई के नाते देखा जाता है।" (बर्जेस)

"शासन एवं प्रजा के रूप में विभाजन करके एक ही प्रदेश में रहने वाला समाज। इस विशिष्ट भूभाग में अन्य संस्थाओं की अपेक्षा इस समाज का अधिक प्रभुत्व रहता है।" (लास्की)

"जहां भी किसी मानव-समुदाय में एक ऐसी सर्वोच्च सत्ता पायी जाये जो व्यक्ति एवं व्यक्ति-समूहों की सामाजिक गतिविधियों का नियंत्रण करती है, किंतु स्वयं उस नियंत्रण में बद्ध नहीं होती, वहाँ एक राज्य है कहा जायेगा।" (विलौबी)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"इन दिनों सामान्यतः जिस अर्थ में 'राज्य' शब्द का प्रयोग किया जाता है, उसमें से निम्न आशय व्यक्त होते हैं– १. इस प्रकार निर्दिष्ट मानव-समूह संगठित होता है। अन्य प्रकार से न सही, कम से कम एक समान शासन की आज्ञाओं का नित्य पालन करने की मान्यता और शासक एवं शासितों में स्थापित संबंधों के स्थायित्व के कारण उनका नियमबद्ध समूहजीवन होता है। इस समूहजीवन में उसके सदस्यों के जीवन से भिन्नता पायी जा सकती है। २. वहाँ की सरकार का अधिकार विशिष्ट भूभाग पर चलता है। ३. उस समूह की सदस्य-संख्या उपेक्षणीय नहीं होती। वह कितनी हो, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। (सिडविक)

"राज्य विशिष्ट भूभाग पर रहने वाले बहुत से लोगों का एक समूह होता है; ऐसा समूह, जिसमें बहुमत की इच्छा या उसमें स्पष्टता से दर्शाये जा सकने वाले विशिष्ट वर्ग के लोगों की इच्छा उस बहुमत या वर्ग के वल पर विरोधी मत के लोगों पर भी लागू की जाती है।" (हालैंड)

"राज्य का अर्थ है मनुष्यों का एक सुनिश्चित भूप्रदेश पर शासक एवं शासित के रूप में मिलकर रहना या साहचर्य रखना जिसमें उनका वह संयुक्त जीवन एक नैतिक, सुसंगठित, पुरुष-समान व्यक्तित्व में बँध जाता है या संक्षेप में कहा जाये तो राज्य का अर्थ है विशिष्ट देश का राजनीतिक दृष्टि से संगठित राष्ट्रीय व्यक्तित्व।" (ब्लंटश्ली)

७. हमारे यहाँ के सर्वश्री पुरुषोत्तमदास टंडन, डा. मुखर्जी, डा. अम्बेडकर, लाल वहादुर शास्त्री, रफी अहमद किदवई, डा. संपूर्णानंद, डा. सी.डी. देशमुख की भांति पश्चिम में भी अपवाद के रूप में ऐसे कुछ राजर्षि हो गये हैं। उदाहरण के लिए आस्ट्रिया के जोसेफ द्वितीय तथा प्रशिया के फ्रेडरिक द्वितीय। उसी प्रकार निम्न उल्लेख देखें–

"सन १७८९ में जार्ज वाशिंगटन ने अमरीका का राष्ट्रपति चुने जाने के वाद अपने एक मित्र ने कहा, सत्ता की कुर्सी की ओर मैं तो उसी भावना से जा रहा हूँ जैसे कि कोई अपराधी मृत्युदंड के स्थान की ओर जाता है।"

इतिहासाचार्य राजवाड़े कहते हैं, "भारत में सैकड़ों रामदास निर्मित हुए होते तो अखिल भारतीग्र राष्ट्रनिष्ठा यहाँ उदित होकर पुष्ट हो जाती।"

८. श्री पु.ग. सहस्रबुद्धे अपने 'इहवादी शासन' ग्रंथ में कहते हैं, "किंतु यूरोप में मार्सिग्लिओ, वायक्लिफ, इरॅस्मस, लूथर आदि ने इहवाद का जो तत्त्वज्ञान सिद्ध किया, वैसा भारत में किसी ने किया नहीं... उस नये आचार के समर्थन में किसी ने कोई ग्रंथ-लेखन किया नहीं।"

यूरोप में इहवाद के उदय का इतिहास बिलियन एडवर्ड लेकी नामक आयरिश ग्रंथकार ने अपने 'द राइज एंड इन्फ्लुएन्स ऑफ रेशनलिज्म इन यूरोप' ग्रंथ में दिया है।

९. सामान्यतः यह धारणा पायी जाती है कि तथाकथित समृद्ध पश्चिमी देशों में सेक्यूलरिज़्म पूर्णरूपेण चल रहा है। किंतु यह सच नहीं है। एक विद्वान सोवियत लेखक ए. बारमिनकोव अपने 'फ्रीडम कॉन्शिएन्स इन द यूएसएसआर' नामक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ग्रंथ के पाँचवे अध्याय में लिखते हैं, "अन्तरात्मा की स्वतंत्रता तथा राज्य से चर्च को और चर्च से शिक्षा-प्रणाली को सिद्धांततः पृथक् करने की घोषणा करके भी बुर्जुवा प्रत्यक्ष में कभी वैसा करता नहीं। सत्ता हस्तगत करने के बाद उन्होंने नास्तिक लोगों के विरुद्ध लड़ाई में चर्च का समर्थन किया। आज भी कई पूंजीवादी देशों में नास्तिकता से धर्म-संप्रदाय का बचाव करने के लिए चर्च को शासन से पृथक् कर एक कवच के रूप में उसका उपयोग किया जाता है। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों नास्तिकता बढ़ रही है और विभिन्न धर्म-सम्प्रदाय अपना-अपना बेसुरा राग अलापते जा रहे हैं, त्यों-त्यों शोषक वर्ग को समझौतों के रूप में सुविधाएं प्राप्त करा देने के लिए चर्च का उपयोग किया जा रहा है। कई पूंजीवादी देशों में चर्च राज्यतंत्र का सच्चा और कितने ही प्रसंगों में संवैधानिक अंग बन गया है। राज्य चर्च को आर्थिक सहायता देते हैं और चर्च का प्रयोग वर्गहित के लिए कर लेते हैं।

"अधिकांश पूँजीवादी देशों के संविधानों में अन्य उपासना-पद्धतियों पर प्रतिबंध लगाकर एक विशिष्ट उपासना-पद्धति का ही लाभ करा देने की व्यवस्था की गयी है। उदाहरण के लिए एवेंजेलिकल ल्यूथरन चर्च डेनमार्क, नार्वे तथा स्वीडन में सरकारी उपासना-पद्धति है। ग्रीस की सरकार ईस्टन ऑर्थोडॉक्स चर्च का समर्थन करती है, तो ब्रिटेन में चर्च ऑफ इंग्लैंड का प्रभुत्व है। स्पेन में रोमन कैथोलिक प्रस्थापित चर्च है। किसी भी एक पंथ को सरकारी स्तर देने से अन्य पंथ एवं धर्म-सम्प्रदाय स्वाभाविक रीति से द्वितीय श्रेणी के हो जाते हैं। मध्य-पूर्व और दक्षिण-पूर्व एशिया और अफ्रीका के सत्रह देशों में इस्लाम को 'कानून' द्वारा विशेष श्रेणी प्रदान की गयी है। चौदह यूरोपीय तथा लेटिन अमेरिकी देशों में चर्च को लाभ पहुँचाने के लिए पूरा प्रबंध किया गया है। विशिष्ट मान्यता प्राप्त चर्च का सदस्य बाईस राज्यों में राज्यप्रमुख बन सकता है। अर्जेण्टीना, लाइबेरिया तथा ईरान में भी सरकारी कर्मचारियों के लिए ऐसी ही पात्रता आवश्यक कर दी गयी है। फिर अन्तरात्मा की स्वतंत्रता का क्या अर्थ रह जाता है? उत्तर आयरलैंड के कैथोलिक लोगों पर राजनीतिक उद्देश्य के लिए ब्रिटेन में सत्तारुढ़ दल के समर्थन से प्रोटेस्टेंट उग्रवादी आक्रमण करते रहते हैं। उसी प्रकार कैथोलिक स्पेन में प्रोटेस्टेंट लोगों को बर्बरता से यंत्रणाएं दी जाती थीं। उन्हें किसी भी सरकारी विभाग में नौकरी नहीं मिलती थी और पाठशालाओं में पढ़ने की अनुमति नहीं होती थी। उसी प्रकार सेवाओं में भी उन्हें अधिकार के पद पर पदोन्नति नहीं दी जाती थी।

यद्यपि अमेरिका में आत्मा की स्वतंत्रता और चर्च को राज्य से अलग करने की औपचारिक घोषणा की गयी है, फिर भी अधिकांश सरकारी संस्थाओं में आज भी धार्मिक परिपाटियों के अनुसार समारोह संपन्न होते हैं। अमरीकी प्रतिनिधि-सभा (कांग्रेस) का सत्र ईसाई प्रार्थना कहने के बाद प्रारंभ होता है केवल शासन के अधिकारी ही नहीं, अपितु राष्ट्रपति भी अपने पद की शपथ ग्रहण करता है तो उसे भी धार्मिक शपथ लेनी पड़ती है। बयालीस देशों के संविधानों की प्रस्तावनाओं में ईश्वर से प्रार्थना की गयी है। कई देशों में न्यायाधीश नास्तिक साक्षी (गवाह) के साक्ष्य को स्वीकार नहीं करते। नास्तिकों को सरकारी सेवाओं में भर्ती नहीं किया जाता। डेलावारे राज्य के संविधान के अनुसार सभी नागरिकों के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लिए सार्वजनिक प्रार्थना में उपस्थित रहना अनिवार्य है। आत्मा की स्वतंत्रता पूंजीवादी देशों में आज भी केवल पूजा या उपासना-पद्धति को स्वीकार करने की स्वतंत्रता मानी जाती है। किंतु कई अन्य देशों में वह भी नहीं है।

नार्वे के संविधान में किये गये प्रावधान के अनुसार सभी नागरिकों को चाहिए कि अपने बच्चों को प्रस्थापित एवेंजेलिकल ल्यूथरन चर्च की भावना के अनुसार ही शिक्षित करें। पश्चिम जर्मनी में चर्च कई शिक्षण-संस्थाओं एवं पाठशालाओं का चालक भी है। ग्रीस के विधान के अनुसार माध्यमिक एवं प्राथमिक शालाओं में शिक्षा 'ग्रीक-क्रिश्चियन संस्कृति के वैचारिक आदर्शों" सहित राष्ट्रीय अस्मिता के अनुरूप ही होनी चाहिए। धार्मिक शिक्षा के लिए इस्राइल में एक राज्य-परिषद् है और यहूदी मत को शासकीय उपासना-पद्धति की मान्यता दी गयी है।"

यहाँ अलग से कहने की आवश्यकता नहीं कम्युनिज्म में 'रिलीजन' (मजहब) के सभी लक्षण उपस्थित हैं। मार्क्स उनका मुहम्मद, दास कैपिटल उनका कुरान, कम्युनिज़्म का उच्चतम चरण उनका सातवां स्वर्ग तथा द्वन्द्ववाद (डायलेक्टिसिज्म) उनका अल्लाह है। इसीलिए विविध दर्शनों के विद्वान अध्येता डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने यह निष्कर्ष निकाला है कि कम्युनिज्म एक 'रिलीजन' है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि १९४५ में स्टालिन ने मास्को चर्च का पुनरुज्जीवन किया था और एलास्की नामक धर्माचार्य की मास्को पीठ पर नियुक्ति की थी।

१०. अपने सुप्रसिद्ध उत्तरपाड़ा भाषण में श्री अरविंद कहते हैं, "आज मैं यह नहीं कहता हूँ कि राष्ट्रीयता एक विश्वास है, एक धर्म है अथवा निष्ठा है। किंबहुना, मैं यह कह रहा हूँ एक सनातन धर्म ही हमारे लिए राष्ट्रीयता है। हिन्दू राष्ट्र सनातन धर्म को लेकर ही निर्मित हुआ है, उसे लेकर ही आगे चला है और उसके साथ ही बढ़ रहा है। जब सनातन धर्म की हानि होती है, तब इस राष्ट्र की भी अवनति होती है; और सनातन धर्म का विनाश यदि संभव होता, तो सनातन धर्म के साथ ही इस राष्ट्र का भी विनाश हो गया होता। सनातन धर्म ही हमारी राष्ट्रीयता है।"

११. इस विषय में डा. मुखर्जी की अन्तरात्मा की तड़पन कैसे थी और उसके कारण वे हार्दिकता से कैसे बोलते थे, इसका यह नमूना देखें—

"यह प्रदेश (पाक-व्याप्त काश्मीर) हमें वापस मिलेगा, इसकी क्या संभावना है? संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयासों से वह हमें नहीं मिलेगा। शांतिपूर्ण मार्ग से अर्थात पाकिस्तान के साथ बातचीत चलाकर वह हमें प्राप्त नहीं होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि हम सामर्थ्य का उपयोग नहीं करते हैं, तो यह प्रदेश हमें सदा के लिए खो देना होगा। और, प्रधानमंत्री तो शक्तिप्रयोग करना नहीं चाहते। तो आइए, हम वस्तुस्थिति का सीधा सामना करें— क्या हम इस प्रदेश को खोने के लिए तैयार हैं?"

१२. केवल नमूने के आधार पर एक छोटे राज्य का उदाहरण लें। राज्य-पुनगर्ठन से पूर्व उसे मध्यभारत कहा जाता था। तब से उसमें प्रमुख रूप से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

काम करने वाले कुछ कार्यकर्ता आज भी सक्रिय राजनीति में प्रसिद्धि के प्रकाश मे हैं। उनका अलग से नाम-निर्देश न करें तो भी चल सकता है। इनमें से कुछ लोग इससे पहले ही दिवंगत हो गये हैं। श्री मोरेश्वर गद्रे (इंदौर), श्री राजाभाऊ महांकाल (उज्जैन), श्री हरिसिंह पवार (बदनावर), श्री शास्त्री (ग्वालियर), श्री ठाकुरदास जेठवाणी (उज्जैन), श्री गजा महाराजा (मंदसौर), श्री भय्यासाहेब बड़े (सेन्धवा), श्री प्रेमचंद श्री जैन (खांडवा), श्री हजारीलाल जी (शाजापुर) आदि कार्यकर्ता कालवश हो गये हैं। इनके अतिरिक्त मा. दादासाहेब दवे, मा. मनोहरराव मोघे, श्री माणिकचंद वाजपेयी (भिंड), श्रीमती राधाबाई नीमा (इंदौर), श्री नत्थूलाल जी मंत्री (गुना), श्री मदनलाल पांडे (शाजापुर) तथा श्री गोविंदराव दलवी 'मास्टर' (ग्वालियर) आदि अन्य क्षेत्र में सक्रिय कार्यकर्ता भी उन दिनों मध्यभारत जनसंघ के प्रवीण (मास्टर-माइंड) समूह में थे। पंडितजी के मार्गदर्शन में श्री कुशाभाऊ ठाकरे ने निरंतर अथक परिश्रम कर यह समूह तैयार किया था। इस छोटे से राज्य के कार्यदल का विवरण केवल उदाहरण के लिए दिया है। यही प्रक्रिया सभी राज्यों में अन्य सभी स्तरों पर चलती रहे, इस दृष्टि से पंडित जी अखण्ड प्रयास करते थे।

१३. प्रजा परिषद् की स्थापना से पूर्व काश्मीर में 'नेशनल कान्फ्रेंस' थी। किंतु जम्मू में विभिन्न जाति-समुदायों की सभाएं काम करती थीं। कहने को तो 'हिन्दूराज्य सभा' कुछ काल चली, किंतु आगे चलकर उसके सभी पदाधिकारी 'नेशनल कान्फ्रेंस' में सम्मिलित हो गये। परिस्थिति जैसे-जैसे विकट होती गयी, जम्मू के नागरिकों में नव-चेतना का निर्माण होने लगा। मा. माधवराव मुले, बलराज मधोक, डा. ओमप्रकाश मैगी, जगदीश अब्रोल, डा. सूरजप्रकाश, श्यामलाल शर्मा, दुर्गादास वर्मा, राधाकृष्ण शर्मा आदि लोग पंडित प्रेमनाथ डोगरा के निवास पर बार-बार एकत्रित हो, नयी संस्था की स्थापना के बारे में चर्चा करने लगे थे। आगे चलकर जम्मू के गणमान्य नागरिकों की एक सभा ब्राह्मण सभा में बुलायी गयी और उसमें 'प्रजा परिषद्' की स्थापना की घोषणा की गयी। इस सभा में भाग लेने वाले प्रमुख लोग थे: सर्वश्री परशुराम नागर, रायजादा अमरचंद, गोपाल दत्त मैगी, देवेन्द्र शास्त्री, प्रा. रामकृष्ण, कविराज विष्णुगुप्त, चतरराम डोगरा, श्रीनिवास मंगोत्रा, हंसराज पंडोत्रा, वजीर हरिलाल, शिवनाथ नंदा आदि। प्रजा परिषद् के प्रथम अध्यक्ष वजीर हरिलाल एवं मंत्री हंसराज पंडोत्रा चुने गये।

१९४६ के बाद कालेज के पहले राष्ट्रीय उत्सव में नेशनल कान्फ्रेंस ने तिरंगे के स्थान पर अपना हलवाला झण्डा फहराया। इसके विरुद्ध छात्रों ने प्रदर्शन किये। उनकी धरपकड़ हुई। छात्रों ने आमरण अनशन किये। ३५ दिवस के अन्न-सत्याग्रह के बाद उन्हें मुक्त किया गया। यह दीर्घ उपोषण करने वाले छात्र थे: सर्वश्री चमनलाल गुप्त, तिलकराज शर्मा, वेदप्रकाश चौहान, वेदमित्र, हरदेव, विश्वपाल, रामस्वरूप चौधरी, कैप्टेन रामस्वरूप, सत्यपाल गुलाटी, पवनसिंह, ओमप्रकाश गुप्त, यशपाल पुरी, द्वारिकानाथ गुप्त तथा घनश्याम।

छात्रों के इस आंदोलन के बाद पं. प्रेमनाथ डोगरा, धनंतर सिंह सलाथिया,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कविराज विष्णुगुप्त, श्यामलाल शर्मा, शिवराम गुप्त और शिवनाथ नंदा–इन प्रजा परिषद् के नेताओं को बन्दी बना लिया गया। इसके प्रत्युत्तर में सत्याग्रह आंदोलन प्रारम्भ किया गया। सत्याग्रह का संचालन श्री रूपचन्द नंदा और श्री दुर्गादास वर्मा ने किया। यह सत्याग्रह १० महीने चला। सत्याग्रह के उन दिनों जम्मू की महिलाओं का एक शिष्टमंडल दिल्ली आया। उनमें प्राध्यापिका शक्ति शर्मा एवं श्रीमती सुशीला मैगी प्रमुख थीं। शिष्टमंडल ने सत्ताधारी एवं विरोधी दलों के नेताओं से भेंट की। उसके बाद पंडित नेहरू ने बक्षी गुलाम मुहम्मद को एक पत्र भेजा। परिणामस्वरूप प्रजा परिषद् का सत्याग्रह समाप्त हो गया और प्रजा परिषद् के सभी बन्दी लोगों को मुक्त कर दिया गया।

इसके बाद डा. श्यामाप्रसाद मुखर्जी के नेतृत्व में हुए रोमांचकारी संघर्ष की बात सर्वविदित है। इस सत्याग्रह में सुन्दरवनी के तीन तथा ज्योड़िया के सात सत्याग्राही बलिदान हुए। उन्होंने अपने आत्म-बलिदान से अपने जन्म-स्थान को भी मान प्रतिष्ठा प्राप्त करा दी। इनके अतिरिक्त छंब के मेलाराम, हीरानगर के भीखमसिंह और बिहारी लाल, रामवन के शिवाराम, देवीशरण तथा भगवानदास भी हुतात्म हो गये। ये सभी सोलह वीर सरकार की गोलियों के शिकार हुए। प्रजा परिषद् के इन सोलह आत्म-बलिदानियों के नाम भारत के अखण्डता-संग्राम के इतिहास में सुनहरे अक्षरों में लिखे जायेंगे।

स्वतंत्रता के बाद भारत की अखण्डता को बनाये रखने के लिए प्रजा परिषद् द्वारा किये गये इस संग्राम का संपूर्ण इतिहास अभी प्रकाश में नहीं आया है। प्रो. बलराज मधोक के लेखों में इसके बारे में कुछ उल्लेख हैं, किन्तु संपूर्ण इतिहास का लिखा जाना आवश्यक है।

१४. इस भाषण का प्रतिवेदन दीनदयाल शोध संस्थान की त्रैमासिक पत्रिका 'मंथन' के मार्च, १९८० के अंक में छपा है। उदाहरण के लिए उसका कुछ भाग यहाँ उद्धृत कर रहे हैं: "....महामंत्री के पद पर चुने जाने के लिए उनके द्वारा स्वयंसेवक और प्रचारक की भूमिका में प्रकट किये गये गुण एवं संस्कार कारण बने थे.... संघ का उत्तम कार्यकर्ता बनने के लिए लोक-संग्रह के गुणों की सबसे अधिक आवश्यकता है.... लोक-संग्रह का यह गुण अपने में लाने के लिए एक विशेष जीवनशैली की आवश्यकता है। 'जैसी कथनी वैसी करनी', ऐसा आचरण होना चाहिए। कथनी और करनी में जो तालमेल नहीं रख सकता, वह लोक-संग्रह नहीं कर सकता। लोगों को एकत्र करने के बाद उनके जीवन को एक विशिष्ट दिशा देनी होती है। राष्ट्र एवं समाज के लिए संपूर्ण समर्पण-भाव का गुण उने अंतःकरण में उतारना होता है। यह सब प्रचारक के व्यक्तिगत जीवन एवं व्यवहार द्वारा ही हो सकता है। केवल भाषणबाजी एवं चालाकी करने से लोकसंग्रह नहीं हो सकता। उसके आधार पर मनुष्य-निर्माण नहीं किया जा सकता। ....यहाँ किसी को भी यह पूछने का मोह हो सकता है कि आज दीनदयाल जी जीवित होते तो उन्होंने क्या किया होता? इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है। शायद आज की राजनीतिक परिस्थिति में वे राजनीति से संन्यास ले लेते। सच देखा जाये तो, उन्हें राजनीति से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कभी हार्दिक प्रेम नहीं था। जनता पार्टी के निर्माण के बाद, कुल रागरंग देखकर वे सत्ता के सभी स्थानों से दूर रहते। इतना ही नहीं, शायद वे जनता पार्टी से अलग हो जाते और फिर से अपने संघ कार्य में रम जाते। इतने पर भी उनके लिए राजनीतिक क्षेत्र में रहना यदि अपरिहार्य होता तो, उन्होंने 'दोहरी निष्ठा' का प्रश्न उपस्थित होते ही राजनीति को राम-राम किया होता और स्पष्ट घोषणा की होती, ''मैं पहले संघ का स्वयंसेवक हूँ और आज मैं जो कुछ भी हूँ, संघ के कारण ही हूँ।'' किन्तु मान लीजिए, परिस्थिति के दबाव के कारण ऐसी स्थिति में भी रजनीति में काम करना उनके लिए अपरिहार्य हो जाता तो वे अपना समय दिल्ली में व्यर्थ नष्ट न करते। निरंतर भ्रमण करते रहते। देश में अपने असंख्य सहयोगियों से उन्होंने निरंतर संपर्क रखा होता और प्राप्त परिस्थिति एवं जनता की मनःस्थिति के बारे में अपने विचार एवं परिकल्पनाएं उन्हें सतत् समझाकर बतायी होतीं। कार्यकर्ताओं एवं जनता के साथ उन्होंने प्रयत्नपूर्वक अखण्ड संपर्क रखा होता। आज चल रही राजनीति में वे भाग न लेते। प्रत्युत, धीरे-धीरे एक उत्तम दल की रचना करते। कारण, राजनीतिक दल को उन्होंन कभी सत्ता-प्राप्ति का साधन नहीं माना। अपने सिद्धांतों को तिलांजलि देकर सत्ता प्राप्त करना उन्हें स्वीकार नहीं था। सत्ता से दूर रहकर, तत्त्वाधिष्ठित एवं सुसंगठित दल वे खड़ा करते, चाहे वह दल प्रारम्भ में कितना भी छोटा क्यों न होता।

''राष्ट्र का उत्थान करना हो तो ऐसे ही नये नेताओं की आवश्यकता है जो अपने नाम व ख्याति अथवा प्रसिद्धि की, अथवा प्रधानमंत्री पद की भी कोई परवाह नहीं करते।''

१५. उदाहरण के लिए पंडितजी की निम्न प्रतिक्रिया देखें:—

''अभी हाल ही में स्वतंत्र दल के महामंत्री ने हैदराबाद में यह घोषणा की है कि उनका दल जनसंघ से तब तक समझौता नहीं कर सकेगा जब तक जनसंघ पाकिस्तान और काश्मीर के संबंध में अपनी नीति में परिवर्तन न करे। मैं मसानी को धन्यवाद देता हूँ कि उन्होंने अपना मन्तव्य इतने स्पष्ट रूप से प्रकट किया। उनकी इस घोषणा ने हमें चुनाव संबंधी उस समझौते के बंधन से मुक्त कर दिया जो स्वतंत्र दल के नेताओं की पाक और काश्मीर संबंधी वर्तमान नीति के कारण, हमारे लिए पर्याप्त परेशानी का कारण बन गया था।

....यह स्वाभाविक है कि जनसंघ किसी भी दल से, जो देश के किसी भू-भाग को आक्रमणकारी के हाथ सौंपने का विचार रखता है, कोई समझौता न करे। ....अच्छाई-बुराई के संबंध में हमें श्री मसानी के उपदेशों की आवश्यकता नहीं है। देश की एकता और अखण्डता का प्रश्न श्रद्धा का विषय है और उसकी प्राप्ति के लिए हम कोई भी कसर उठा नहीं रखेंगे।'' (पांचजन्य २७ जुलाई, १९६४, पृष्ठ-१०)

१६. डा. अम्बेडकर की भूमिका यह थी:—

''अब ऐसा कहने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि यह देश जाति और सम्प्रदायों के कारण विघटित हो गया है और अल्पसंख्यकों के संरक्षण के लिए

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संविधान में उचित प्रावधान किये बिना वह संगठित एवं स्वशासित समाज नहीं बन सकेगा। किन्तु अल्पसंख्यकों को भी यह बात ध्यान में रखनी होगी कि आज हम अनेक पंथों में क्यों न बंटे हों, और जाति के कारण हमारे छोटे-छोटे टुकड़े क्यों न हुए हों, हमारा उद्देश्य भारत की एकता ही है। अल्पसंख्यकों को ऐसी कोई मांग स्वेच्छा या अनिच्छा से नहीं करनी चाहिए जिससे इस उद्देश्य को हानि पहुँचे।"

१७. ६ दिसम्बर, १९५६ को बाबासाहेब के महानिर्वाण के बाद 'अ.भा. शैड्यूल्ड कास्ट्स फैडरेशन' की राष्ट्रीय कार्यसमिति की बैठक ३१ दिसम्बर, १९५६ तथा १ जनवरी, १९५७ को नगर में हुई। उसमें बैरिस्ट राजाभाऊ खोब्रागड़े को अध्यक्ष चुना गया और सर्वोच्च केन्द्रीय मंडल की स्थापना की गई। इस अध्यक्ष-मंडल में सर्वश्री बैरिस्टर राजाभाऊ खोब्रागड़े, दादासाहेब गायकवाड़, जी.टी. परमार, एम. रत्नम्, आर.डी. भण्डारे, के.बी. तलटवटकर तथा बी.सी. कांबले आदि थे। उसके बाद ३ तथा ४ अक्तूबर १९५७ को नागपुर में आमंत्रित विशेष अधिवेशन में अस्थायी कार्यसमिति की घोषणा की गयी और उसकी अवधि ३ अक्तूबर, १९५८ तक घोषित की गयी। बैरिस्टर खोब्रागड़े ने यह अवधि ३ मार्च १९५९ तक बढ़ाने की घोषण की। यह बात उस दल के कुछ वरिष्ठ नेताओं को भायी नहीं। बाबू हरिदास आवले, एन.एम. कांबले, श्री दादासाहेब रूपवते तथा बी.सी. कांबले ने यह भूमिका ली कि ३ अक्तूबर, १९५८ के बाद अब दल का कोई पदाधिकारी नहीं है और बैरिस्टर खोब्रागड़े द्वारा २७ अक्तूबर, १९५८ को आमंत्रित महापरिषद् की बैठक अवैधानिक है। यह तांत्रिक विवाद दल के विघटन का कारण बना। किन्तु वस्तुतः व्यक्तिवाद एवं जाति-उपजातिवाद के आधार पर दल में विभिन्न गुट तैयार होना कभी का प्रारंभ हो चुका था। यह गुटबाजी बढ़ते-बढ़ते 'रिपब्लिकन पार्टी' लगभग १३ गुटों में विभक्त हो गयी। हर गुट अपनी नीति अलग-अलग निश्चित करता रहा और सब मिलकर दलित लोगों की मांगों के लिए संघर्ष करने की प्रवृत्ति कम होने लगी। इस सब का परिणाम यह हुआ कि 'शे.का. फेडरेशन', 'रिपब्लिकन पार्टी' तथा नीले झण्डे के प्रति सबके मन में प्रेम होते हुए भी नेतृत्व के बारे में पहले जैसी श्रद्धा नहीं रही। वह टूट गयी और उसी में से 'दलित पैंथर' जैसे उग्रवादी आंदोलन की भूमिका तैयार हुई। इस सबके होते हुए भी नामदेव ढसाल, राजा ढाले आदि लोगों के नेतृत्व में 'दलित पैंथर' का प्रत्यक्ष उदय पंडितजी के जीवित रहते तक नहीं हुआ था। अतः दलित पैंथर के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई संवेदनशील परिस्थिति में हिन्दुत्वनिष्ठ लोगों को कौन सी पद्धति से काम करना चाहिए यह बताने की आवश्यकता पंडितजी के सामने नहीं आयी।

दलित पैंथर की स्थापना की घोषणा ९ जुलाई १९७२ को सिद्धार्थ नगर, वापटी रोड, बम्बई में एक बैठक में की गयी। उस बैठक में सवर्लश्री नामदेव ढसाल, राजा ढाले, लतीफ खटिक, न.वि. पवार, अविनाश महातेकर, भाई श्रृंगारे आदि लोग उपस्थित थे।

सन् १९७२-७३ के लगभग कर्नाटक में सर्वश्री वसवलिंगप्पा, वी.टी. राजशेखर शेट्टी, कृष्णप्पा, कृष्णस्वामी, सिद्धलिंगप्पा, डा. डी.आर. नागराज

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आदि ने इस प्रकार का आंदोलन प्रारम्भ किया और उसके अन्तर्गत 'सवर्ण'-विरोधी उत्तेजक तथा भड़काने वाला प्रचार भी प्रारम्भ हुआ।

राजा ढाले से लेकर राजशेखर शेट्टी और 'दलित-मुस्लिम सुरक्षा महासंघ' के नेता हाजी मस्तान तक इस आंदोलन का प्रभाव बहुत द्रुत गति से हुआ।

किन्तु यह सारा घटनाक्रम सन् १९६८ के बाद का है। सन् १९५६ से १९६८ तक दलित-नेतृत्व के प्रभावशाली व्यक्तियों में सर्वश्री दादासाहेब गायकवाड़, दा.ता. रूपवते, रा.सु. गवई, वासुदेव गाणार, राजाभाऊ खोब्रागड़े, हरिदास आवले, ना.ह. कुंभारे, डी.ए. कट्टी, बी.सी. कांबले, घनश्याम तलवटकर, रा.धों. भण्डारे, एन. शिवराज, सखाराम मेश्राम, श्रीमती शांताबाई दाणी, ईश्वरीबाई आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। १९६८ के बाद के काल में इन लोगों का प्रभाव क्रमशः कम होने लगा और दलित-नेतृत्व के क्षितिज पर नये व्यक्ति उदय होने लगे।

१८. ठाणे में १९७३ में हूए श्री गुरुजी के भाषण में उनके विचारों की सर्वोच्च अभिव्यक्ति हुई है। इस भाषण में उन्होंने आर्थिक प्रश्नों की ओर देखने की मूलभूत हिन्दू दृष्टि विशद् की है। उनके प्रतिपादन से स्वाभाविक रूप से जो निष्कर्ष निकलते हैं, निम्न प्रकार हैं:-

१. प्रत्येक नागरिक की जीवनविषयक प्राथमिक आवश्यकताओं को पूर्ण करना ही होगा।

२. समष्टि रूप में परमात्मा की उत्तम-से-उत्तम सेवा करते बने, इसके लिए भौतिक समृद्धि प्राप्त करनी होती है। सम्पत्ति का कम से कम अंश अपने लिये उपयोग में लाना होता है। यह अंश इतना ही हो, कि जिसे लेने से इन्कार करने पर सेवा करने की अपनी क्षमता ही खंडित हो जायेगी। उससे अधिक पर अधिकार बताना या व्यक्तिगत उपयोग के लिए उसको प्रयुक्त करना समाज के विरुद्ध चोरी करने जैसा अपराध है।

यावत् भ्रियेत् जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दंडमर्हति।।

३. इस प्रकार हम समाज के केवल न्यासी हैं। हम सच्चे न्यासी बनें, तभी समाज की उत्कृष्ट सेवा कर सकेंगे।

४. अतएव, व्यावहारिक सम्पत्ति जोड़ने की भी कुछ अधिकतम सीमा होनी चाहिए। व्यक्तिगत लाभ के लिए दूसरों के श्रम का गलत उपयोग करने का अधिकार किसी को नहीं।

५. लाखों लोग भूख से पीड़ित हों, तब अभद्र तड़क-भड़क और व्यर्थ का व्यय करना पाप है। सभी भोगों पर न्यायोचित निर्बंध होने चाहिए। 'उपभोक्तावाद' हिन्दू संस्कृति के आदर्शों के अनुरूप नहीं है।

६. 'अधिक से अधिक उत्पादन और न्यायोचित वितरण' हमारा उद्देश्य होना चाहिए। राष्ट्रीय स्वावलंबन हमारा त्वरित लक्ष्य हो।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

७. बेकारी एवं अर्ध-बेकारी की समस्याओं के विरुद्ध उपाय युद्धस्तर पर किये जायें।

८. औद्योगीकरण अपरिहार्य हो, तब भी वह पश्चिमी लोगों का अंधानुकरण करते हुए करने की कोई आवश्यकता नहीं। प्रकृति का दोहन करना होता है, उस पर बलात्कार करना नहीं होता। पर्यावरण विषयक बातों, प्रकृति के संतुलन तथा भावी पीढ़ियों की आवश्यकताओं का आकलन करना चाहिए। पर्यावरणशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा नीतिशास्त्र का समग्र विचार आवश्यक है, टुकड़ों में नहीं।

९. पूँजीप्रधान उद्योगों की अपेक्षा श्रमप्रधान उद्योगों पर अधिक बल दिया जाये।

१०. हमारे तंत्र-विशारदों को व्यवसायिक लोगों के लाभ के लिए परंपरागत प्रविधियों (टेक्नीक्स) में सहज संभव परिवर्तन करने चाहिए। दृष्टि यह हो कि कामगारों में बेकारी बढ़ने का खतरा न रहे; उपलब्ध व्यवस्थापकीय एवं प्राविधिक (तांत्रिक) कौशल बेकार न जाये; आज के उत्पादन के साधन विपूँजीकृत होकर पूर्णतः निरुपयोगी न बनें; तंत्र-विशारद अपना स्वदेशी तंत्रज्ञान विकसित करें; उसमें उत्पादन-प्रक्रिया के विकेंद्रीकरण पर बल दिया जाये; इसके लिए विद्युत की शक्ति की सहायता लेते हुए कारखानों के स्थान पर घर को ही उत्पादन का केन्द्र बनाने का प्रयत्न हो।

११. सेवायोजन (रोजगार) की वृद्धि के साथ ही कार्यक्षमता को भी बढ़ाना चाहिए।

१२. प्रत्येक उद्योग में श्रम भी पूँजी का एक प्रकार होता है। प्रत्येक कामगार के श्रम का मूल्य पूँजी के अंश (शेयर) के रूप में आंका जाना चाहिए और श्रम रूपी पूँजी लगाने वाले अंशधारकों की श्रेणी में कामगारों को रखा जाना चाहिए।

१३. उपभोक्ताओं का हित राष्ट्रीय हित का निकटतम आर्थिक समतुल्य है। सभी औद्योगिक संबंधों में समाज तीसरा और अधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष होता है। 'सामूहिक सौदेबाजी' की प्रचलित पश्चिमी कल्पना इस भूमिका के साथ सुसंगत नहीं है। उसके स्थान पर दूसरी कोई शब्द-योजना प्रयोग में लानी चाहिए। उदाहरण के लिए, इसे 'राष्ट्रीय प्रतिबद्धता' कहा जा सकता है। कर्मचारी और नियोक्ता दोनों की राष्ट्र के प्रति कुछ वचनबद्धता इसमें से व्यक्त होगी।

१४. श्रम के अतिरिक्त मूल्य का स्वामी राष्ट्र है।

१५. औद्योगिक स्वामित्व के किसी साँचाबंद प्रकार से बँध जाना आवश्यक नहीं है। निजी उद्योग, राष्ट्रीयकरण, नगरीकरण, नगरपालिकाकरण, लोकतंत्रीकरण स्वयं-नियोजन (सेल्फ एम्प्लायमेंट), संयुक्त उद्योग, आदि अनेक प्रकार हैं। प्रत्येक व्यावसायिक को अपने उद्योग की प्रकृति और राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकताओं को ध्यान में लेकर उसके स्वामित्व का प्रकार निर्धारित करना होगा।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१६. धर्म के मूलभूत सिद्धांतों से सुसंगत कोई भी आर्थिक-सामाजिक रचना का निर्माण करने की छूट हमें है।

१७. किन्तु प्रत्येक नागरिक की मनोरचना सुयोग्य ढंग से न की गयी हो, तो समाज की बाह्य रचना में ऊपरी परिवर्तक्न करने से कुछ होने वाला नहीं। किसी पद्धति पर चलने वाले लोग जैसे भले या बुरे होंगे वैसी ही वह पद्धति भली या बुरी बन जायेगी।

१८. हमारी धारणा सदैव यही रहती आयी है कि व्यक्ति और समाज के संबंध संघर्ष के न होकर सुसंवादी एवं सहयोग के हैं। एक ही सत् तत्त्व सभी व्यक्तियों में व्याप्त है। यह बोध इस धारणा का आधार है। प्रत्येक व्यक्ति समग्र सामाजिक व्यक्तित्व का एक सजीव अवयव होता है।

१९. संपूर्ण प्रकृति के साथ तादात्म्य के संस्कारों से किसी भी सामाजिक-आर्थिक रचना की सच्ची सामाजिक पूर्व-सिद्धता होती है।

ठाणे शिविर में श्री गुरुजी ने सामाजिक-आर्थिक पुनर्रचना के जिन आधारभूत सिद्धांतों की जानकारी दी, उनका एक बड़ी मात्रा में स्मरण कराने वाली रचना यूगोस्लाविया में पायी जाती है, यद्यपि दोनों में समानता आंशिक ही है। उस रचना का अधिकतम प्रमुख सूत्र यह है:—

"Self-management is basically a unified process of the integration of workers, their labour and resources and the broadest possible basis for integrating all forms of human labour, all segments of society, for integrating the Yugoslav community on the basis of self-management and national and social equality." (युगोस्लाव समुदाय को स्वप्रबन्धन और राष्ट्रीय एवं सामाजिक समानता के आधार पर समवेत करने के लिए सभी कर्मकरों, उनके श्रम और संसाधनों तथा मानव-श्रम के सभी रूपों को समवेत करने का व्यापकतम आधार,और समाज के सभी खण्डों को समवेत करने की मूलतः एकीकृत प्रक्रिया स्वप्रबन्धन है।)

दीनदयाल जी के अनुयायी जब उनकी इस विषय की परिकल्पनाओं को प्रत्यक्ष में लाने का प्रयत्न करेंगे, तब एक आधारभूत प्रयोग के नाते यूगोस्लाविया का 'द एसोशिएटेड लेबर एक्ट' उनके लिए बहुत उपयोगी होगा।

१९. ऐसे मूलभूत दर्शन की प्राकृतिक अभिव्यक्ति क्रमशः कैसे होती है, इस विषय में श्री अरविंद ने जो विचार व्यक्त किये थे, एकात्म मानव दर्शन पर भी पूर्णतः लागू होते हैं:—

"इन व्यक्तिविशिष्ट कल्पनाओं की दिशा पहले तत्त्वज्ञान, मनोविज्ञान, चिंतन, कलाक्षेत्र, काव्य, चित्र, शिल्प, संगीत, नीति विषयक प्रमुख कल्पना और व्यक्तिगत तत्त्वों को सामाजिक प्रश्नों पर लागू करने के हमारे विचारकों द्वारा किये गये प्रयत्नों में प्रकट होती है। और संभवतः—यह प्रयास कितना ही कठिन क्यों न हो—राजनीति एवं अर्थनीति में भी इसके प्रयोग किये जाते हैं। प्रयास इसलिए

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कठिन होते हैं कि राजनीति एवं अर्थनीति शुद्ध उपयोगितावादी उपचारों के अतिरिक्त अन्य सभी बातों को ठुकराने वाले कठिन जड़ पदार्थों की भांति होती हैं।"

२०. संविधान में इस अधिनियम से केवल निम्न विषयों के बारे में भिन्न भूमिका स्वीकार की गयी है—

प्रजातंत्रीय प्रणाली की सरकार।

बाह्य नियंत्रणों से मुक्त संसद्।

सरकारी कार्यकारी अंग का विधानमंडल के प्रति पूर्णतः उत्तरदायी होना।

राजा महाराजाओं की रियासतों एवं राज्यों का एक ही संवैधानिक चौखट में समावेश और दोनों के लिए एक ही प्रकार के लोकतंत्रीय शासन को मान्यता।

नागरिकता की व्याख्या।

नागरिकों के मूलभूत अधिकारों का समावेश।

सरकारी नीति के मार्गदर्शक तत्त्वों की घोषणा।

पृथक् निर्वाचन-क्षेत्रों का विसर्जन और सार्वजनिक वयस्क मतदान प्रणाली का स्वीकार।

शेष अधिकार संघीय शासन को सौंप देना।

केन्द्रीय संसद को संवधान-संशोधन का अधिकार। कुछ विशिष्ट प्रावधानों के संदर्भ में संसद की सम्मति के अतिरिक्त देश की विधानसभाओं में से कम से कम आधी विधान सभाओं की स्वीकृति आवश्यक।

२१. इस संदर्भ में यह बात सर्वविदित है कि अपने देश में मैकाले की अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली का ध्येय "रक्त और वर्ण से भारतीय किन्तु अभिरुचि, विचार, भाषा एवं बुद्धि से अंग्रेज बने लोगों का एक वर्ग" तैयार करना था। उसने घमंड से कहा था कि "हमारी अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण करने वाला कोई भी हिन्दू कभी भी अपने धर्म के बारे में ममत्व की भावना नहीं रखेगा।" .... "भारत पर हमने विजय प्लासी की लड़ाई में प्राप्त नहीं की, अपितु जिस दिन मेरा भारतीय शिक्षा विधेयक पारित हो गया, उस दिन हमने भारत को जीत लिया।"

स्वराज्य-प्राप्ति के बाद इस प्रकार के प्रयासों का सिलसिला निर्बाध चलता रहा। उदाहरण के लिए, इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक पूरक कार्य विलेक्स अँडाल्फ, विसर्ट हुफ्ट नामक डच ने सन् १९४८ में स्थापित 'वर्ल्ड कौंसिल ऑफ चर्चेज' में भी सर्वत्र चालू किया था।

२२. ज्ञातिराष्ट्रादिसंघानां साकल्यं चरितस्य यत्।
व्यक्तं संस्कृतिशब्देन भाषाशास्त्रात्मकं ननु।।

-ज्ञानकोषकार डॉ. श्री. व्यं. केतकर.

"धर्म के नियमों के अनुसार जब प्रकृति का परिष्कार होता है, तो उसे संस्कृति कहा जाता है। यह संस्कृति निश्चय ही मानव जीवन की धारणा और उसके उदात्तीकरण में समर्थ होगी।"

-दीनदयाल उपाध्याय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"संस्कृति शब्द द्वारा समाज-मानस पर हुए परिणामों की मूल दिशा व्यक्त होती है। यह दिशा उसकी अपनी होती है और इतिहास के प्रवाह में राग, लोभ, भावना, विचार, उच्चार एवं कृति के संकलित परिणामों से वह निष्पन्न हुई होती है।"

-'भारतीय मजदूर संघ क्यों ?'

"लोग कभी-कभी पूछते हैं, हिन्दू संस्कृति की आपकी परिभाषा क्या है ?' उत्तर इतना ही है कि यद्यपि कोई परिभाषा नहीं की जा सकती, हम लोग उसे अनुभव करते हैं। संस्कृति की परिभाषा नहीं की जा सकती इसलिए उसे अस्वीकार करने वाले अनेक लोग हैं। वे कहते हैं, 'ऐसी बात का क्या उपयोग जिसकी परिभाषा करना ही संभव न हो।' किन्तु क्या यह युक्तिवाद तर्कसंगत है? उदाहरणार्थ, प्राण बचाने के लिए सभी चिकित्सा-विज्ञानों का विकास हुआ है। किन्तु बिलकुल आधुनिक शास्त्रों से भी 'प्राण' की परिभाषा करते नहीं बनी है। किन्तु चिकित्सा शास्त्र की उपादेयता में इसके कारण कोई बाधा नहीं आयी है। 'जीवन' का बाह्य आविष्कार एवं उसके मन पर होने वाले परिणाम उसके प्रत्यक्ष अस्तित्व का विश्वास दिलाने के लिए पर्याप्त हैं।" -श्री गुरुजी

"व्यक्तिगत वंशशास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर संस्कृति अथवा सभ्यता का अर्थ ज्ञान, श्रद्धा-विषय, कला, नैतिक कल्पना, परिपाटी (रीति-रिवाज), समाज के घटक के नाते प्राप्त की हुई पात्रता एवं आदतों का मिला जुला समुच्चय होता है।"

-ई.बी. टेलर (एक ब्रिटिश वंशशास्त्रज्ञ)

संस्कृति इतिहास से निष्पन्न जीवन का एक प्रारूप है। विशिष्ट-जन-समूहों के सदस्य उसमें सहभागी होते हैं।"

-क्लाइड क्लकहोहन (अमेरिकन वंशशास्त्रज्ञ)

२३. उदाहरण के लिए, फ्रेंच राज्य-क्रांति से पूर्व चर्च के पदाधिकारियों की बड़ी बड़ी रियासतें थीं। फ्रांस में डेढ लाख धर्माधिकारियों की व्यक्तिगत आय प्रतिवर्ष चार-से-पाँच लाख तक हुआ करती थी। इसके अतिरिक्त भक्तजनों से लगभग इतनी ही राशि उन्हें मिलती थी। उनके मठ राजप्रासादों की भांति सुखोपभोग के सभी साधनों से सज्जित होते थे। लोगों की आय का छठा भाग कर के रूप में चर्च वसूलता था। चर्च की वार्षिक आय लगभग १५ करोड़ की थी।

इस पृष्ठभूमि से मार्क्स की मनोवृत्ति समझी जा सकती है। किन्तु भारत की स्थिति इससे सर्वथा भिन्न थी। यहाँ संगठित चर्च कभी नहीं था। व्यक्तिगत पुरोहित तो थे, किन्तु यूरोप की भांति यहाँ पुरोहितशाही कभी नहीं थी। इस तथ्य को ध्यान में न रखने के कारण पं. नेहरू जैसे नेता भी इसी समीकरण के प्रभाव में आ गये थे। फिर भी संतोष की बात यह है कि अपने जीवन की संध्या में पंडित नेहरू ने धर्म के बारे में पुनर्विचार करना प्रारंभ कर दिया था। उन्होंने प्रांजलता से कहा था कि,

"देश में भौतिक समृद्धि लाने के प्रयास में मानव-प्रकृति के आध्यात्मिक अंश

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की ओर हमने कतई ध्यान नहीं दिया। इसीलिए व्यक्ति और राष्ट्र के सामने जीवन का ऐसा लक्ष्य रखने के लिए, जिसके लिए जीना होता है और प्रसंग आने पर प्राण भी देने होते हैं, हमें जीवन के कुछ तत्त्वज्ञानों को फिर से स्वीकार करना होगा, अपने चिंतन को आध्यात्मिक अधिष्ठान देना होगा। हम कल्याणकारी राज्य, लोकतांत्रिक समाजवाद आदि के बारे में काफी बोलते हैं, किन्तु उसका स्पष्ट और असन्दिग्ध बोध हमें नहीं होता। लोकतंत्र और समाजवाद एक विशेष लक्ष्य को प्राप्त करने के साधन हैं, वे जीवन के अंतिम लक्ष्य नहीं हैं।''

''अपनी समस्याओं के इस आर्थिक अंग का विचार करते समय हमें वेदों में वर्णित चेतनाशक्ति का आदर्श सम्मुख रखना होगा। सारे अस्तित्व का वही आंतरिक आधार होता है।''

नारमन कजिन्स के 'टाक्स विद नेहरू' में पंडित नेहरू ने कहा है, 'हिन्दू तत्त्वज्ञान, धर्म और लोकतंत्र में विसंगत कुछ भी नहीं है। हिन्दू धर्म के उदर में एक तेजस्वी विश्ववाद है। हिन्दू धर्म किसी भी बदली हुई स्थिति के साथ तालमेल बिठा सकता है। विभिन्न एवं परस्पर विरोधी विचारों का समावेश कर सके, हिन्दू धर्म इतना विशाल है। भारत का धर्म ऐसे नये परिवर्तन करने में चूकेगा नहीं। जिनसे सर्वसाधारण लोगों का कल्याण होता दिखाई देता हो। इससे पूर्व हिन्दू धर्म ने बड़े-बड़े स्थित्यंतरों को पचा लिया है।'

पंडित नेहरू के इस सायंकालीन परिवर्तन की बात से किसी को माओ के चीन की विशुद्ध भौतिक संस्कृति से डेंग के चीन की आध्यात्मिक संस्कृति की ओर हो रहे सद्यःकालीन संक्रमण का स्मरण हो सकता है।

उदाहरणार्थ, श्री राय के ये विचार देखें–

१. ''आज सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि नीति का सामाजिक तत्त्वज्ञान एवं राजनीतिक व्यवहार के साथ तालमेल बिठाया जाये। मनुष्य की सार्वभौमिकता उसके नैतिक अस्तित्व से ही निष्पन्न होती है।''

२. ''.....जब तक देश में बौद्धिक, सांस्कृतिक, तथा आध्यात्मिक वातावरण में परिवर्तन नहीं होता, तब तक देश की राजनीतिक एवं आर्थिक पुनर्रचना करना असंभव है।''

३. ''.....आध्यात्मिक दृष्टि से स्वतंत्र हुए नैतिक मानवों के सहकारितायुक्त प्रयत्नों ने एक राष्ट्रकुल एवं मुक्त मानव के बंधुत्वपूर्ण जीवन के रूप में विश्व की सामाजिक पुनर्रचना'' करने का ध्येयस्वप्न श्री राय ने व्यक्त किया था।

२५. संघ को बदनाम करने के लिए उस पर 'फासिज्म' का निराधार आरोप लगाने वालों को श्री टी.वी.आर. शास्त्री द्वारा दिया गया उत्तर यहाँ देना अप्रासंगिक नहीं होगा।

''किसी सरकार या राज्य को 'फासिस्ट' कहा जा सकता है। किन्तु जिस संस्था में सम्मिलित होने के लिए किसी को विवश नहीं किया जा सकता, ऐसी निजी संस्था को फासिस्ट कहा ही नहीं जा सकता।''

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

२६. यह सच है कि रूसी राज्य-क्रांति की सफलता की चकाचौंध के कारण सामान्य युवा मानस प्रभावित हो गया था। तथापि उस स्थिति में भी अपना मस्तिष्क शांत रखकर भविष्य का वेध लेने वाले श्रेष्ठ विचारक भारत में थे ही। उदाहरण के लिए, निम्न उद्गार देखें—

"जिस स्वरूप में बोल्शेविज्म आज पश्चिमी देशों में प्रसृत किया जा रहा है, उस स्वरूप में वह भारत में कदापि सफल नहीं होगा। हम अपने वेदांत से ही दृढ़तापूर्वक जुड़े रहें तो हमारी सारी इच्छाएं अवश्य पूर्ण होंगी।"

-लोकमान्य तिलक

"कम्युनिस्ट प्रकार के श्रमिक आंदोलनों का प्रारंभ भारत में भी हो गया तो भारत की राष्ट्रीय प्रतिभा एवं संस्कृति को अभिप्रेत सभी नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन-मूल्य विकृत हो जायेंगे।"

-विपिनचन्द्र पाल

"रूस के आत्मा को कार्ल मार्क्स के समाजवाद से मुक्त होने के लिए संघर्ष करना चाहिए।"

-चितरंजन दास

२७. "समाजवादियों की अनेक विफलताओं में केवल एक उदाहरण के नाते उद्धृत करना हो तो श्री लुई फिशर द्वारा लोकनायक जयप्रकाश जी के समक्ष व्यक्त निम्न अपेक्षा का उल्लेख किया जा सकता है—

"आपको यह बताने की आवश्यकता नहीं कि इन दिनों भारतीय समाज में जाति और धर्म के अनुसार खड़े संस्तर बन गये हैं। समाजवादियों को चाहिए कि इन संस्तरों को क्षैतिज (धरातल के समानान्तर) बनवायें, उन्हें वर्ग एवं आर्थिक हित-संबंधों का स्वरूप दें। तभी धार्मिक भेदों पर दिया जाने वाला बल समाप्त किया जा सकेगा और भारत की सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त होगा।'

इस पर कोई भी भाष्य करने की आवश्यकता नहीं।

२८. तथाकथित गाँधीवादी भी गाँधीजी को कितनी मात्रा में समझ सके हैं, यह प्रश्न ही है। इस दृष्टि से पंडित नेहरू द्वारा दिये गये उनके उदाहरण उद्बोधक हैं। वे कहते हैं,

"प्रमुख कांग्रेसजनों में बाद में सेवा दल के प्रति कितना विरोध था, देखकर हमें आश्चर्य हुआ। कुछ लोगों ने कहा, यह तो कांग्रेस का अपने ध्येय से दूर जाना है। कारण, इसका अर्थ यह है कि कांग्रेस में सैनिक वृत्ति लायी जा रही है। कई अन्य लोगों को लगा कि ऊपर से आये आदेशों का पालन करना ही स्वयंसेवकों के लिए आवश्यक अनुशासन है। इससे अधिक स्वयंसेवक पग से पग मिलाकर चलें, यह भी वांछित नहीं है। कुछ लोगों ने मन ही मन यह धारणा बना ली थी कि प्रशिक्षित एवं संचलन में कुशल स्वयंसेवक बनना किसी न किसी रूप में कांग्रेस के अहिंसा के सिद्धांत के विरूद्ध है।"

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद सभी परिवर्तन अहिंसात्मक, शांतिमय, तथा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संवैधानिक मार्गों से ही हों, यह सिद्धांत निरपवाद ही था। स्वयं स्वातंत्र्यवीर सावरकर ने अभिनव भारत के समापन-समारोह में कहा था, ''स्वदेश स्वतंत्र होकर स्वराज्य की स्थापना होते ही हमारा प्रथम राष्ट्रीय कर्तव्य यह होना चाहिए कि क्रांतिकार्य में हम ही लोगों द्वारा राष्ट्र भर फैलायी गयी राज्यविध्वसंक वृत्तियों एवं साधनों को तत्काल विसर्जित कर अब हम राष्ट्र में रचनात्मक एवं निर्बंधशील वृत्ति का प्रभुत्व स्थापित करें।''

२९. वास्तव में किसी भी राजनीति दल की छत्रछाया में न रहते हुए समाजसेवा करने वाले लोग पश्चिम और भारत में भी पैदा हुए हैं। क्रिश्चियन विश्व में प्राचीन काल में ईसा मसीह, नाइट्स आफ सेंट लैजरस, सेंट फ्रांसिस ऑफ ॲसिसि आदि लोगों की बात छोड़ दें, तब भी आधुनिक काल के उदाहरण के नाते केवल कुष्ठ-सेवा का क्षेत्र भी लें तो फादर डेमियन, फादर डट्टन, डॉ. हैन्सेन, डॉ. आर.एच. कोक्रेन, डॉ. पाल ब्रैंड, डॉ. एन.एच. एंटिया, डॉ. ए. एफ कोएलचो आदि क्रिश्चिन समाजसेवियों की भांति अपने देश में भी (महात्मा गाँधी के अतिरिक्त) सर्वश्री बाबा आमटे, डॉ. मनोहर दीवान, डॉ. शिवाजीराव पटवर्धन, डॉ. वाड़देकर, डॉ. धर्मेन्द्र, डॉ. एच. श्रीनिवास, डॉ. एस.एम. मुखर्जी, श्री कात्रे और श्री बापट आदि लोग इस क्षेत्र में उत्कृष्ट सेवा कर रहे हैं और ये सब कार्य केवल सेवा की भावना से चल रहे हैं। राजनीतिक नेताओं की भांति अपने स्वार्थ में निमग्न न होते हुए केवल सेवा-वृत्ति से सम्पूर्ण जीवन जीने वाले महापुरूष हमारे यहाँ और पश्चिम में भी हैं। महाराष्ट्र में संत गाडगे महाराज, पश्चिम में अल्बर्ट श्वाइत्जर, लिविंगस्टन आदि लोग इसी श्रेणी में आते हैं। श्री बाबा आमटे के बारे में श्री हार्ट ने कहा है, ''उनका कार्य किसी भी राजनीतिक नेता के कार्य से अधिक आशयपूर्ण है।''

तथापि राजनीतिक नेताओं में ऐसी प्रवृत्ति का होना स्वाभाविक ही है कि किसी भी तथा किसी के भी द्वारा किये गये सत्कार्य का श्रेय अपने दल को मिले। स्वतंत्रता के बाद के प्रारंभिक काल में यह प्रवृत्ति विशेष उभार पर थी।

३०. श्री समर्थ ने कहा है—''कार्यकर्ता न हों-राजद्वारे।'' श्री मैक आइवर एवं पेत्र दो समाजशास्त्रज्ञ हैं, जिन्होंने कहा है,—''राजनीतिक-आर्थिक क्षेत्रों के संगठनों पर निर्भर न रहने वाली स्वतंत्र संस्था स्थापित करने के लिए सांस्कृतिक कार्य को जब पूरी छूट होती है, तब अपना लक्ष्य अधिक परिपूर्णता से प्राप्त करना उसके लिए संभव होता है। अतः सांस्कृतिक संस्थाओं को राजनीतिक-आर्थिक संगठनों के चंगुल से मुक्त करना सामाजिक उत्क्रांति का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।''

३१. श्री एस.के. डे अपनी 'पावर टु द पीपुल' पुस्तक में सर्वोदय-कार्यकर्ता और सामुदायिक विकास कर्मचारियों में सामंजस्य के अभाव का विश्लेषण इस प्रकार करते हैं—

१. सर्वोदय-कार्यकर्ता अपनी नैतिक श्रेष्ठता की कल्पना से मुक्त नहीं हो सके हैं, और २. सरकारी सामुदायिक विकास कर्मचारी विशिष्ट काम के लिए प्रशिक्षित किये गये थे, वे लोग कुछ अनुशासन में रहने वाले कार्यकर्ताओं की श्रेणी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में आते थे। गांधीवादियों में व्यवहार-बुद्धि के अभाव अथवा सार्वजनिक धन के प्रति दायित्व की भावना को वे समझ नहीं सके।"

३२. पंडित जी ने इस विचार के मर्म को समझा था कि—भविष्य का वेध लेने के ज्ञान के बिना इतिहास निरर्थक होगा। इतिहास के बिना भविष्य का वेध लेने का ज्ञान निर्मूल होगा।

३३.तादृशोऽयमृजुप्रश्नो यत्र धर्मः सुदुर्लभः।
दुष्करः प्रतिसंख्यातुं तत्केनात्र व्यवस्यति।।
प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यात्प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः।
धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः।
यः स्याद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः।।
धर्मे विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा। —(शांतिपर्व)
धर्मे सर्व प्रतिष्ठितम्।
तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति। (तैत्तिरीय संहिता)

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।। (वैशेषिक)

अभ्युदय-निःश्रेयसे साधनत्वेन धारयति इति धर्मः।
—(माधवाचार्य)

३४. हमारे अंग्रेजी पढ़े-लिखे विद्वानों ने स्वाभिमानशून्य विवशता की अपनी मनोवृत्ति हर परिस्थिति में बनाये रखने के बारे में जो दृढ़ता दिखायी, वह वास्तव में आश्चर्यजनक थी। वस्तुतः पश्चिम का भारत के साथ जब प्रथम संबंध आया, तभी से उधर के कुछ प्रमुख विद्वानों के मन में इस देश के बारे में जिज्ञासाएं जाग्रत होनी प्रारंभ हो गयी थीं। शॉपेनहोवर, फ्रेडरिक श्लेगेल, मैक्समूलर, विलियम जोन्स, पाल ड्यूसेन आदि विद्वानों ने भारतीय संस्कृति के बारे में प्रशंसात्मक उद्‌गार व्यक्त करना प्रारंभ किया था। 'द सीक्रेट बुक्स ऑफ द ईस्ट' का प्रकाशन ५० खण्डों में हुआ। रॉथ ने वैदिक भाषाशास्त्र (फिलोलॉजी) फ्रैंग बॉप ने तुलनात्मक भाषाशास्त्र में शोध प्रारंभ किया था। भारतीय व्युत्पत्ति-भाषाशास्त्र, वंश-शास्त्र, कला इतिहास एवं इतिहासशास्त्र, पुरातत्त्व शास्त्र आदि विविध शास्त्रों के प्रारंभिक पाश्चात्य प्रवर्तक ए.जे.ए. डिबोइज, प्रिंसेप, फरग्यूसन, कनिंगहम, ग्रिअर्सन, जेम्स बर्जेस, एम. एल्फिन्स्टन, विन्सेण्ट ए. स्मिथ, फ्लीट, हल्श आदि के अनुकूल अभिप्राय भी प्रकाशित हुये थे। एडविन आर्नोल्ड, वाल्ट व्हिटमैन, थोरो, एमर्सन, एडवर्ड कारपेंटर, पाल ब्रंटन आदि पर वेदांत का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगा था। स्पिनोजा के पैंथिइज्म, लाइब्नित्ज के प्लूरलिस्टिक मोनेडिक आइडियलिज्म तथा स्विस विचारक स्वेडनबोर्ग के पाएटिज्म आदि की हिन्दू तत्त्वज्ञान के तत्सम विचारों के साथ समानांतरता सबके ध्यान में आने लगी थी। स्वयं रामतीर्थ ने स्पष्ट कहा था: "क्रिश्चियन विज्ञान, थिओसोफी (ईश्वरविद्या) और अमरीकी अध्यात्मवाद

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भारतीय चिन्तन के प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रिक्थ (पैतृक दाय) का प्रतिनिधित्व करते हैं।''

सर्वश्री कोरोसी, जी. टर्नवर, फौसबाल, आर.सी. चाइल्डर्स, टी. डब्ल्यू. रीस डेविड्स, सी.ए.एफ. रीस डेविड्स, ओल्डेनबर्ग, श्चेरबात्स्की, पाऊसिन, पॉल ढालके आदि विद्वानों ने बौद्ध मत पर गंभीरतापूर्वक अनुसंधान किया था और टाल्स्टाय जैसा श्रेष्ठ विचारक बौद्ध मत एवं वेदांत से प्रभावित हुआ है यह बात भी सबके ध्यान में आ चुकी थी। पश्चिमी धर्ममतों एवं चितन पर भारत का ऋण कार्ल मार्क्स ने भी मान्य किया था।

हिन्दू दर्शन से प्रेरणा प्राप्त करने वाले काण्ट, शॉपेनहॉवर, एवं फिश्टे का कार्लाइल एवं रस्किन की प्रणालियों पर पड़ा प्रभाव सहज ध्यान में आ रहा था।

३५. सोवियत सरकार के अधिकृत प्रकाशन में स्टालिन ने घोषणा की थी कि ''चिकित्सा शास्त्रज्ञों को वनस्पतिशास्त्र, भौतिकी आदि शास्त्रों का ज्ञान न हो, तब भी काम चलेगा। किन्तु द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का ज्ञान उन्हें अवश्य रहना चाहिए।''

रूस की कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति के महामंत्री एल.आई. ब्रेजनेव ने सम्मेलनों के क्रेमलिन प्रासाद में ७ अक्टूबर, १९७५ को दिये भाषण में दल की विज्ञान विषयक भूमिका स्पष्ट की थी। अवसर था यू.एस.एस.आर. एकेडेमी ऑफ साइन्सेस के २५०वीं वर्षगाँठ के दिन का। उन्होंने कहा, ''आज मुझे दल की विज्ञान विषयक नीति के बारे में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कहनी हैं। रूसी शास्त्रज्ञ किसी भी ज्ञानशाखा में काम क्यों न करते हों, उनमें कुछ विशेषताएं सदैव पायी जाती हैं। श्रेष्ठ कोटि का कम्युनिस्ट बोध एवं सोवियत देशभक्ति वे विशेषताएं हैं। सोवियत शास्त्रज्ञ अपने विज्ञान-क्षेत्र में सारी गतिविधियाँ मार्क्सवाद तथा लेनिनवाद की विचारधारा के अनुसार ही करता है। वह कम्युनिज्म का सक्रिय समर्थक होता है। प्रतिगामी एवं अधपरंपरावादी शक्तियों के साथ वह संघर्ष करता है। उदात्त कम्युनिस्ट ध्येयों की प्राप्ति के लिए ही हमारे शास्त्रज्ञ अपने-अपने क्षेत्र में सक्रिय होते हैं।''

३६. यह सब ध्यान में लेने के बाद इस वर्ष मराठी विज्ञान साहित्य सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण में प्रा. भालबा केलकर के निम्न विचारों का मर्म अपने आप समझ में आ जायेगा:

''प्राचीन काल से अर्वाचीन काल तक सिंहावलोकन करने पर और पौर्वात्यों से पाश्चात्यों तक की प्रगति देखने पर ध्यान में आयेगा कि महान वैज्ञानिक मूलत: दार्शनिक ही होते हैं।

प्राचीन भारतीय वैज्ञानिक धन्वन्तरि, अश्विनीकुमार, कपिल, भोज, सोमदेव, सुश्रुत, चरक, कणाद, आर्यभट्ट, भास्कर, पतंजलि, वाग्भट, आदि और आधुनिक डॉ. भाभा, डॉ. न.ना. गोडबोले, डॉ. विक्रम साराभाई, डॉ. भटनागर, डॉ. जगदीशचन्द्र बोस, डॉ. करमरकर, डॉ. गोखले, डॉ. शिरोडकर, डॉ. खानोलकर, डॉ. के.के. दाते आदि भारतीय वैज्ञानिक अपने आप में दार्शनिक ही हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्राचीन पाश्चात्यों में अरिस्टॉटल, डेमोक्रेटस, आर्किमिडीज, गॅलेन, हिपोक्रेटस, आदि एवं अर्वाचीन डॉ. आइनस्टाइन, डॉ. ओपनहायमर, न्यूटन, ऑटोहान, फ्रेड हाईल, जोसेफ लीस्टर आदि सारे वैज्ञानिक दार्शनिक ही रहे हैं। पदार्थविज्ञान, विज्ञान और अध्यात्म की सीढ़ियों से मानव-जीवन विकसित होता जाता है।"

कुछ ऐसे ही विचार प्रकट करते हुए गेरी जुकाव कहते हैं—

"भौतिकी (Physics) का अध्यात्मज्ञान के साथ क्या साम्य है ? आपाततः ऐसा दिखाई देता है कि भौतिकी और अध्यात्मज्ञान दो भिन्न क्षेत्र रहे हैं। उनमें से एक दृश्य विश्व की घटनाओं से संबंधित है और दूसरा अन्तर्मुख दृष्टि से प्रत्यक्ष होने वाली बातों के साथ। किन्तु ध्यानपूर्वक देखें तो हम पायेंगे कि भौतिकी और अध्यात्मज्ञान जितने आपाततः दिखाई देते हैं, वस्तुतः उतने एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं।....."

".....अब हमारे ध्यान में आयेगा कि क्वाण्टम घटनाओं का दोनों पक्षों के साथ पर्याप्त घनिष्ट संबंध रह सकता है और जो बातें कभी 'अतींद्रिय' मानकर विचारबाह्य घोषित कर दी गयी थीं, वे भौतिकीविदों द्वारा गंभीरतापूर्वक विचार करने योग्य हो सकती हैं।..... संक्षेप में, सामान्य विचारप्रक्रिया को अलग रखने की आवश्यकता (और अन्ततः सर्वथा 'विचारों के परे' जाने) तथा सृष्टि की एकता देखने में अध्यात्मज्ञान के दर्शन और भौतिकी के विज्ञान में पर्याप्त समानता है.....।

".....सृष्टि के अलग-अलग भाग (जैसे आप, मैं और नौकाएं) एक दूसरे के साथ ऐसे संलग्न रह सकते हैं कि उनका संबंध, हमारे सामान्य अनुभव और भौतिकी के नियमों के निकष पर असत्य सिद्ध होगा, किन्तु इस संबंध को 'बेल का प्रमेय' के नाम से भौतिकी में विशेष स्थान प्राप्त हुआ है यह प्रमेय हमें बताता है कि 'अलग भाग' नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। विश्व के सारे भाग एक आंतरिक एवं निकट सूत्र से जुड़े हैं। पहले केवल गूढ़वादी और शास्त्रीय दृष्टि से आक्षेपार्ह घोषित अन्य लोग भी ऐसे संबंधों का दावा करते थे।

..... अधिकांश भौतिकीविदों को प्रायः व्यावसायिक दृष्टि से अलंकारिक भाषा से अरूचि होती है, किन्तु अब भौतिकी ही अपने में एक प्रभावी भाषा-अलंकार बन गयी है। २०वीं सदी की भौतिकी बौद्धिक साँचाबंद अवस्था से बौद्धिक उन्मुक्तता की ओर हुए प्रवास की कहानी है। यथास्थितिवादी भौतिकीविद व्यक्तिशः भले ही क्यों न कहते हों कि 'मुझको प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर इस बात को सिद्ध करके दिखाओ।' यह प्रवास अवश्य हुआ है..... वू ली मत के ज्ञाता जानते हैं कि भौतिकी के विशेषज्ञ केवल प्रकृति की अनंत विविधता खोजने से कहीं परे जाकर बड़ा काम कर रहे हैं। वे हिन्दू पुराण में वर्णित दिव्य कालीमाता के साथ नृत्य कर रहे हैं।"

३७. चीनी तत्त्वज्ञ लाओ त्झे का यह विवरण देखिए—

"साधु पुरुष सर्वसामान्य जन की अपेक्षा उच्च स्थान का इच्छुक हो, तो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अपने शब्दों से उसे लोगों को बड़प्पन देना चाहिए और स्वयं छोटापन लेना चाहिए। आगे रहकर लोगों का मार्गदर्शन करने की इच्छा हो, तो उसे लोगों के पीछे रहना चाहिए। ऐसे व्यवहार के कारण उसका स्थान यद्यपि वस्तुतः उच्च है, लोग उसका भार नहीं अनुभव करेंगे। वह सबसे आगे रहा तब भी किसी के मन को उसके कारण ठेस नहीं पहुँचेगी। सभी मानव जाति उसका जय-जयकार करने में आनंद मानेगी और कोई उससे ऊब नहीं जायगा। हम जो कर रहे हैं उसके लिए लोग साधुवाद दें, ऐसी साधु पुरुष की अपेक्षा नहीं होती। वह महान कार्य कर जाता है, किन्तु उसका श्रेय कभी अपनी ओर नहीं लेता। अपनी योग्यता का प्रदर्शन करने की इच्छा उसे नहीं होती।"

३८. आज की इस विषम परिस्थिति में भी आर्थिक विषयों में सरकार अथवा पूँजीपतियों की दासता स्वीकार न करने की दृढ़ नीति पर चलने वाले थोड़े कार्यकर्ता शिक्षा एवं रचनात्मक कार्य के क्षेत्र में हैं। उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश तथा आपातकाल में जिनको स्थानांतरण सहना पड़ा ऐसे १६ उच्च-न्यायालयों के न्यायाधीशों की भांति, रामशास्त्री प्रभुणे की परंपरा का स्मरण दिलाने वाले कुछ न्यायाधीश विभिन्न स्तर पर थे और आज भी हैं। यह सब संतोष की बात है। सर अल्लादी कृष्ण स्वामी अय्यर का निम्न निवेदन पुस्तकीय सिद्धांत के नाते सच है। उन्होंने कहा था, "भारतीय संघ में उच्चतम न्यायालय को विश्व के किसी भी भाग के अन्य किसी भी उच्चतम न्यायालय से अधिक अधिकार प्राप्त हैं।"

किन्तु २ मई, १९७३ को श्री मोहन कुमारमंगलम् द्वारा संसद् में दिये गये भाषण के कारण प्रतिबद्ध न्यायपालिका के विषय में जो परिस्थिति निर्मित हुई उसमें अपनी स्वतंत्र प्रज्ञा को बनाये रखना, न्यायाधीशों के लिए कठिन हो गया और आज भी हो रहा है, इसे सब जानते हैं। ऐसे कुछ उदाहरणों के कारण यह आशा करने के लिए स्थान है कि आज के वातावरण में भी सांस्कृतिक जीवन-मूल्य स्थापित करने के योजनापूर्वक प्रयास किये गये तो ऊपर उल्लिखित ऋषि संस्था का पुनरूज्जीवन निकट भविष्य में किया जा सकेगा। इसके अतिरिक्त ऋषि संस्था के बारे में दृढ़ आशा का प्रमुख कारण यह भी है कि वह भारतीय संस्कृति का एक अंग है। पंडित नेहरू ने दिसम्बर १९५९ में राष्ट्रपति आइजनहोवर के सम्मान में आयोजित स्वागत समारोह में कहा था—

"सम्पूर्ण इतिहास-काल में हम भारतीयों की मानसिकता का निर्माण विशिष्ट ढंग से हुआ है। आधुनिक काल में हमारा सबसे महान नेता धनवान नहीं था। उसके पास सैनिक सामर्थ्य नहीं था, और वह किसी भी सत्ता के पद पर भी नहीं था। फिर भी भारत के करोड़ों लोग उसके सम्मुख नत-मस्तक होते थे और उसका नेतृत्व स्वीकार करते थे। ऐसे ही लोगों का हम सम्मान करते हैं और मुझे लगता है, ऐसे लोगों का हम बिलकुल आधुनिक विश्व में भी सदा आदर करते रहेंगे।'

इस प्रकार के व्यक्ति को ही 'ऋषि' की संज्ञा दी गयी है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

श्री दत्तात्रय बालकृष्ण ठेंगड़ी

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्कारों तथा स्वर्गीय श्री गुरुजी के निकट सहवास से जिस गुणसमृद्ध नेतृत्व का अनेक क्षेत्रों में निर्माण हुआ, उनमें श्री दत्तात्रय बालकृष्ण ठेंगड़ी का उल्लेख प्रमुखता से करना होगा। कुशाग्र मेधा के अध्ययनशील तत्त्वचिंतक, कुशल संगठक और राष्ट्रसमर्पित जीवन के तपस्वी;इन शब्दों में उनका वर्णन किया जा सकता है। श्री ठेंगड़ी संघ के आजीवन प्रचारक हैं। 'भारतीय मजदूर संघ' की स्थापना उन्होंने की ओर उसे भव्य आकार दिया। अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद्, भारतीय किसान संघ, संस्कार भारती आदि अनेक संगठनों का कार्य उन्होंने किया। किन्तु यह सब करते हुए भी संघ में उनकी सक्रियता अबाधित रही। संघ-विचारों का उनका अधिष्ठान कभी विचलित नहीं हुआ। आज भी संघ के प्रचारक की अपनी भूमिका उन्होंने बनाये रखी है। उन्हें प्रचुर कीर्ति प्राप्त हुई है और इसके उपरान्त भी अपने सादगी भरे स्वभाव एवं अतीव स्नेह-भावना के कारण वे सामान्य लोगों में भी बहुत प्रिय हो गये हैं। संगठन के कार्य का उलझाये रखने वाला दायित्व संभालते हुए भी श्री दत्तोपंत ने सैद्धांतिक लेखन पर्याप्त मात्रा में किया है।आज उन्हें पं. दीनदयाल जी की भांति हिन्दू जीवन-दर्शन के समर्थ भाष्यकार के रूप में बड़ी मान्यता प्राप्त है। उन्होंने इस ग्रंथ को दार्शनिक निबंध का सहारा दिया है। उससे श्री दत्तोपंत के इस अधिकार को पाठक भी अनुभव कर सकते हैं। इस पूरे ग्रंथ के विभागों का लेखन करते समय उनके लेखकों को दत्तोपंत से बहुमूल्य मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है, इतना कहना पर्याप्त होगा। जीवन के ६० वर्ष पार करने के बाद भी उनकी कार्यव्याप्ति चकित करने वाली है।

- -

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection